* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०४, अगस्त १९७८

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—मीराकी आराध्य-भक्ति [कविता] (मीराबाई) ...	२८९
२—कल्याण (श्रीभाईजी) ...	२९०
३—लालसा [कविता] (स्वामी श्रीसनातनदेवजी महाराज) ...	२९१
४—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन ...	२९२
५—लक्ष्मीजीका रक्षाबन्धन (पूज्य श्रीडोंगरेजी महाराज) ...	२९४
६—मानसका भक्ति-पक्ष (श्रीशिवानन्दजी)	२९५
७—भक्तिका फल [श्रीमद्भागवत] ...	२९९
८—'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णका प्राकट्य (नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा श्रीकृष्ण-जन्माष्टमीके (सं० २०१८ वि० के) महोत्सवपर दिये गये प्रवचनका सारांश)	३००
९—मृत्युसे डरनेकी आवश्यकता नहीं (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ...	३०३
१०—श्रीरामकी शिवोपासना (पं० श्रीवैद्यनाथजी अग्निहोत्री) ...	३०६
११—गीताका कर्मयोग—६ [श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या] (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ...	३१०
१२—सफल आराधना [कविता] (श्रीआदर्श 'प्रहरी', एम्० ए०) ...	३१३
१३—सनातनधर्ममें नारीका कर्तव्य (पं० श्रीनारायणदासजी पहाड़ा 'वावलानन्द')	३१४
१४—तव चरन-शरन ! (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)	३१६
१५—भक्त ललिताचरण	३१८
१६—'सत्यं हि परमं बलम्' [महाभारत] ...	३२०
१७—गङ्गाजलपर वैज्ञानिक अनुसंधान (श्री-श्रीकृष्णजी श्रीवास्तव) ...	३२१
१८—गङ्गाकी महिमा	३२३
१९—साधकोंके प्रति—	३२४
२०—पापका प्रायश्चित्त [एक प्रेरक कहानी] (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ...	३२६
२१—अमृत-बिन्दु	३३०
२२—पढ़ो, समझो और करो ...	३३१

चित्र-सूची

१—परात्पर श्रीकृष्ण	(रेखाचित्र)	... आवरण-पृष्ठ
२—आराध्य-आराधिका (गिरिधरगोपाल और मीरा)	(रंगीन चित्र)	... मुखपृष्ठ

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

आराध्य - आराधिका

मीरा पर गिरधरगोपाल की कृपा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
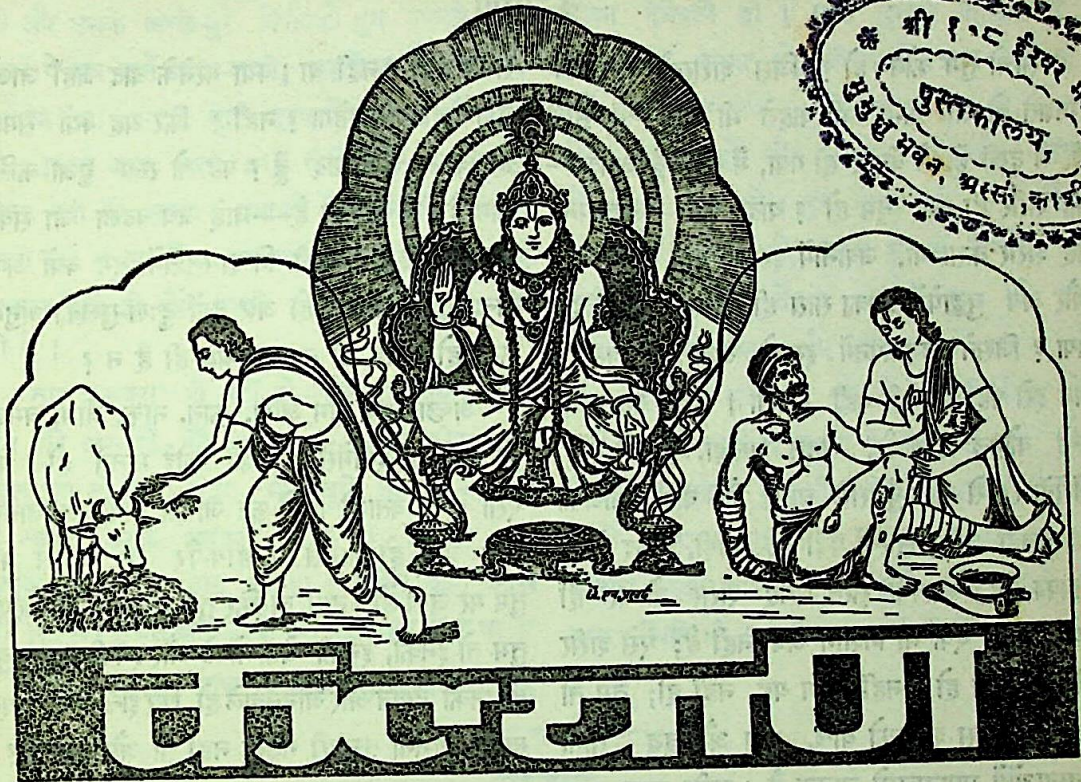
श्रीलाभसुभगः सत्यासक्तः स्वर्गापवर्गदः । जयतात् त्रिजगत्पूज्यः सदाचार इवाच्युतः ॥

वर्ष ५२ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०४, अगस्त १९७८ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ६२१

मीराकी आराध्य-भक्ति

मैं तो साँवरेके रंग राँची।
साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू लोक-लाज तजि नाची ॥
गई कुमति, लई साधुकी संगति, भगत, रूप भइ साँची।
गाय-गाय हरिके गुण निस दिन, काल-व्यालसूँ बाँची ॥
उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काँची।
मीरा श्रीगिरधरन लालसूँ, भगति रसीली जाँची ॥

—मीराबाई
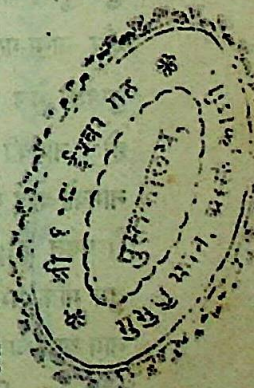
कल्याण

सोचो तुम कौन हो ? जिस शरीरको तुम 'मैं' समझते हो और कभी-कभी कहते भी हो—'मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं बीमार हो गया, मैं स्वस्थ हूँ' आदि—वह शरीर ही क्या तुम हो ? याद करो—लड़कपनमें यह शरीर कैसा था, जवानीमें इसका क्या स्वरूप था और अब बुढ़ापेमें इसका सारा ही रंग-रूप कैसा बदल गया ? जिसने लड़कपनमें इसको देखा था, वह तो अब इसे पहचान भी नहीं सकता । कहाँ वह नन्हे-नन्हे कोमल हाथ-पैर, मोहन मुखड़ा, दूध-से दाँत, भौंरोंके रंग-से काले-घुँघराले बाल और कहाँ आजका यह कुबड़ा शरीर, झुर्रियाँ पड़ी हुई चमड़ी, सफेद केश, चिपका मुँह, डरावनी सूरत ! वह शरीर तो मर ही गया, उसका एक भी निशान अब नहीं है; ऐसे शरीर ही क्या तुम हो ? नहीं, तुम यह नहीं हो; तुम तो वह हो जो इस शरीरको बाल, युवा और वृद्ध—तीनों अवस्थाओंमें समानरूपसे जानता है । शरीर बदल गया, परंतु तुम नहीं बदले । शरीर जड है, तुम चेतन हो; शरीर बढ़ता है, तुम नहीं बढ़ते; शरीर क्षय होता है, तुम जैसे-के-तैसे हो; शरीर पैदा होता है और नष्ट हो जाता है; तुम सदा ही रहते हो । फिर तुम क्यों अपनेको शरीर समझते हो और क्यों शरीरके मानापमान, सुख-दु:ख और जन्म-मरणमें अपना अपमान, सुख-दु:ख और जन्म-मरण मानते हो ? क्यों, सचमुच ही यह तुम्हारी भूल है न ? अच्छा बताओ, क्या तुम 'नाम' हो ? नामकी पुकार सुनते ही सोतेमें बोल उठते हो, नामको कोई गाली देता है तो उसे सुनकर मारे आक्रोशके रो पड़ते हो; मारे क्रोधके जलने लगते हो । जब तुम माँके गर्भमें थे, उस समय बताओ कि तुम्हारा क्या नाम था ? जब तुम जन्मे उस समय क्या तुम्हारा यह नाम था, जिस नामको आज तुम अपना स्वरूप समझते हो ? नहीं था । क्या मरनेके बाद जहाँ जाओगे वहाँ यही नाम रहेगा ? नहीं । फिर यह क्यों समझते हो कि मैं 'रामप्रसाद' हूँ ? यह तो रखा हुआ कल्पित नाम है, जो अनित्य है—चाहे जब बदला जा सकता है । फिर इस नामकी निन्दा-स्तुतिमें तुम क्यों अपनी निन्दा-स्तुति समझते हो और क्यों दु:ख-सुखका अनुभव करते हो ? यह भी तुम्हारा भ्रम ही है न ?

अच्छा, क्या तुम आँख, कान, नाक, जीभ, चमड़ी, पैर आदि इन्द्रियोंमेंसे अपनेको कोई मानते हो ? यदि ऐसा है तो बताओ आँखें फूट जानेसे, नाक कट जानेसे, कान बहरे हो जानेसे या हाथ-पैर टूट जानेसे क्या तुम मर जाते हो ? नहीं, तो फिर तुम इन्द्रिय भी कैसे हुए ? तुम तो इनको, इनकी चेष्टाओंको और इनकी अच्छी-बुरी हालतको देखने और जाननेवाले हो, फिर इन्द्रियोंको अपना स्वरूप मानना तुम्हारी गलती नहीं तो और क्या है ?

ठीक है, तुम अपनेको मन बतलाओगे । पर जरा सोचकर कहो, मनमें जब नाना प्रकारके विचार उठते हैं, तब तुम उनको जानते हो या नहीं ? नहीं जानते, तो कहते कैसे हो कि 'मेरे मनमें अभी यह विचार आया था और जानते हो तो यह निश्चय समझो कि जाननेवाला उस जानी हुई वस्तुसे अलग होता है । सुषुप्तिके समय मनका पता नहीं रहता, परंतु तुम तो वहाँ रहते ही हो; क्योंकि तुम जागकर कहते हो कि मैं सुखसे सोया था । मन जहाँ-तहाँ भटकता है, तुम अपनी जगह अचल बैठे सदा उसकी हरेक चालको देखा करते हो, उसकी प्रत्येक बातको जानते हो, इसलिये तुम मन नहीं हो; तुम तो उसके द्रष्टा हो । फिर अपनेको मन मानना तुम्हारी भ्रान्ति ही तो है ।

तुम बुद्धि भी नहीं हो, मनकी चालकी तरह बुद्धिकी भी प्रत्येक स्थितिको, उसके हरेक कार्यको और

विकारको, उसकी नीचता-उच्चताको, अपवित्रता-पवित्रता-को और उसके अच्छे-बुरे निर्णयको तुम जानते हो। उसमें ये सब बातें आती-जाती, बढ़ती-घटती रहती हैं, पर तुम सदा उसकी सारी हरकतोंको देखा ही करते हो। इसीसे कहा करते हो, 'मेरी बुद्धि उस समय बिगड़ गयी थी, सत्संगके प्रभावसे मेरी बुद्धिकी मलिनता जाती रही।' तब फिर तुम अपनेको बुद्धिका द्रष्टा न मानकर बुद्धि ही कैसे मानते हो? यह तुम्हारा भ्रम ही है।

तुम 'अहंकार' भी नहीं हो—आत्मामें स्थित होकर तुम यदि अपनेको 'मैं' कहते हो तब तो ठीक था। परंतु तुम तो देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके समूहमें मैं—'बुद्धि' करके अहंकार करते हो; वस्तुतः इस अहंकारके भी तुम द्रष्टा ही हो। इसीसे कहा करते हो कि 'मैंने भूलसे अहंकारके वश ऐसा कह दिया था।'

इसी प्रकार तुम प्राण भी नहीं हो, प्राणोंकी प्रत्येक चालके द्रष्टा हो। प्राणोंकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टामें जीवन देनेवाले हो। प्राण तुम्हारे आश्रित हैं। तुम प्राणोंके आधार हो, जीवन हो; प्राण नहीं हो। क्यों, अब समझ गये न, कि तुम न देह हो, न नाम हो, न इन्द्रियाँ हो और न मन, बुद्धि और अहंकार हो और न प्राण हो। तुम शुद्ध, बुद्ध, नित्य, चेतन, आनन्दमय आत्मा हो, देहके नाशमें तुम्हारा नाश नहीं होता और देहके बननेमें तुम नये बनते नहीं। नामका महत्त्व और हीनत्व तुम्हें महान् और हीन नहीं बना सकता। तुम तो सदा निर्विकार हो। तुम्हें न कोई गाली दे सकता है, न तुम्हें मार सकता है और न तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट कर सकता है। तुम अपने स्वरूपमें सदा स्थिर अचल प्रतिष्ठित हो। इस बातको समझो और जगत्के द्वन्द्वोंसे अविचल रहो। यह स्वरूप-स्थिति ही तुम्हारी असली स्थिति है।

—श्रीभाईजी

लालसा

(रचयिता—स्वामी श्रीसनातनदेवजी महाराज)

तिहारी लगन बढ़ै छिन-छिनमें।
तुम बिनु होय न बास प्रानधन! काहूको या मनमें॥
तुम ही तुमको सदा निहारूँ जल-थल और गगनमें।
सदा तिहारी ही झाँकी हो जन-जनमें कन-कनमें॥ १॥
मेरे जीवनके जीवन तुम, तुम बिनु या जीवनमें।
सार-असार भारसम भासत या नस्वर त्रिभुवनमें॥ २॥
एक तिहारी स्नेह-सुधा ही सम्बल है जीवनमें।
ता ही रसकों रसि-रसि जीऊँ, यही चाह है मनमें॥ ३॥
मेरे प्राननाथ! तुम सन्तत रमे रहहु प्रानननमें।
यह मन-मृग तव सुरति-सुधा छकि बिहरै भव-काननमें॥ ४॥
आस-त्रास सब होंहि भसम प्रीतम! तव लगन-अगिनमें।
तुम ही तुम बस रहहु, न भासै निजकी निजता मनमें॥ ५॥
काह कहौं हियकी या गतिकौ उठत हिलग छिन-छिनमें।
तुम बिनु पलहूँ कटत कलपसम जीवन-धन! जीवनमें॥ ६॥

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन

[साधनकी तीव्रता]

जिस प्रकार श्वासकी गति निरन्तर चलती रहती है, उसमें कभी विराम नहीं होता, उसी प्रकार भगवत्प्राप्तिके लिये साधन भी तैलधारावत् सदा-सर्वदा चलते रहना चाहिये। जिस व्यक्तिके द्वारा निरन्तर भजन-ध्यान होता रहता है, उसके कल्याणमें किसी भी प्रकारके संदेहकी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि गीतामें स्वयं भगवान् इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।' मनुष्य सदा जिस भावका चिन्तन करता है, अन्तकालमें भी प्रायः उसीका स्मरण होता है।

इतना ही नहीं, निरन्तर चिन्तन करनेवाले साधकके लिये तो भगवान् अपनी प्राप्ति बड़ी सहज बताते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

इस उपर्युक्त श्लोकके पहले दो श्लोकोंमें भगवान् इन्द्रिय, मन और प्राणके निरोधका साधन बतला चुके हैं। उसे बहुत कठिन कहा जा सकता है। उसे योगी ही कर सकते हैं। परंतु निरन्तर भगवच्चिन्तन तो प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। भगवान्ने **'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'** (८। ७) कहा है, अवश्य ही इसमें तत्परताकी बड़ी आवश्यकता है। तत्पर होकर करनेपर भी यदि जीवनकालमें भगवत्प्राप्ति न हुई तो अन्तकालमें तो निःसंदेह हो ही जाती है।

तन, मन और वचन तीनोंसे साधन होना चाहिये। शरीरसे सेवा, मनसे भगवान्का ध्यान और जिह्वासे भगवन्नामका जप करे। कोई भी कार्य सांसारिक स्वार्थके लिये न करके कर्तव्य समझकर करे। जिस-जिस कालमें भगवत्स्मृति हो, उस-उस समय भगवान्की अत्यन्त कृपा समझे और आनन्दमें गद्‌गद हो जाय। जिस क्षणमें भगवान्की विस्मृति हो जाय, उसके लिये बड़ा भारी पश्चात्ताप करे कि इस समय यदि मेरी मृत्यु हो जाती तो न मालूम क्या दुर्दशा होती!

सभी बातोंमें हमें अपना सुधार करना चाहिये। हम मन्दिरमें जायँ तो हमें मूर्तिमें बहुत श्रेष्ठ भाव करना चाहिये। आसपासकी सजावटसे भगवद्विग्रहको श्रेष्ठ समझें। बाहरी पूजासे भी मानसिक पूजाका अधिक महत्त्व है। बस, हृदय-आकाशमें या बाह्य आकाशमें मानसिक मूर्तिकी स्थापना करके मानसिक सामग्रीद्वारा उनकी सेवा-पूजा करता रहे। यह कार्य हर समय चलता रहे और इसीमें मस्त रहे। भगवान्के दिव्य गुणों—दया, क्षमा, शान्ति, समता आदिको बार-बार याद करे।

भगवान्के प्रेम, प्रभाव और चरित्रोंका चिन्तन करे। प्रेमी तो उनके समान कोई है ही नहीं। रही प्रभावकी बात, सो इस संसारमें जो भी विभूति, कान्ति और शक्तियुक्त वस्तुएँ हैं, उन्हें भगवान्के ही तेजका

अंशमात्र समझाना चाहिये (गीता १० । ४१) । इस प्रकार सभी वस्तुओंमें उनका प्रभाव देख-देखकर उनकी स्तुति-प्रार्थना एवं ध्यान करना चाहिये । इनमें ध्यानका महत्त्व सबसे अधिक है । जब भगवान्‌के समान भी कोई नहीं, तब उनसे श्रेष्ठ तो कोई हो ही कैसे सकता है ? इस आशयके भावोंद्वारा उनकी स्तुति करे । प्रार्थनामें यह भाव रक्खें कि आपका मधुर चिन्तन एवं ध्यान निरन्तर होता रहे, सदा आपकी लीलाका दर्शन होता रहे । लीलामें यह बात समझनेकी है कि हम जो रामलीला देखते हैं, वह तो बाहरकी लीला है । भीतरी लीलाके दर्शनहेतु रामचरितमानसकी लीलाओंको चुन लेना चाहिये और उनका चिन्तन एवं मनके द्वारा दर्शन करना चाहिये । उन सुन्दर स्थलोंकी चौपाइयोंको कण्ठस्थ कर लें, जिनसे लीला-चिन्तन-दर्शनमें सहायता मिलती हो । यह ध्यान करनेका एवं मनको सुगमतापूर्वक भगवान्‌में लगानेका बड़ा सुन्दर, सहज उपाय है । मनुष्यका बहुत-सा समय व्यर्थ-चिन्तनमें व्यतीत हो जाता है, परंतु इस प्रकार साधनमें संलग्न हो जानेपर मनको मनन और चिन्तन करनेका बड़ा सुन्दर सुगम कार्य मिल जाता है । यही इस साधनकी सबसे बड़ी विशेषता है ।

इस प्रकारके कार्योंमें मनको खूब व्यस्त रक्खे । अन्य प्रकारके चिन्तनके लिये उसे तनिक भी अवकाश न दे । कभी रामायण, कभी गीता तो कभी भागवत—इनका मनन करता ही रहे । दिनभरके अन्य व्यर्थ कार्योंसे मुँह मोड़कर ऐसे ही कामोंमें लगे रहना चाहिये ।

साधनमें ढिलाई लानेवाली, साधनकी चाल तेज न होने देनेवाली सबसे बड़ी बाधा है विषयोंकी आसक्ति । अतः सावधान होकर संसारके पदार्थोंमें जो आसक्ति है, उसे सर्वथा हटा देना चाहिये । संसार और उनके पदार्थोंको नाशवान्, क्षणभङ्गुर एवं दुःखदायी समझकर उनसे मनको हटाकर वैराग्य करे । मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य ही मुख्य साधन हैं । कोई यह कह सकता है कि अन्य लोग तो इस प्रकारके साधन करना नहीं चाहते, तो हमें इस विषयमें दूसरोंकी ओर न देखकर स्वयं करना चाहिये ।

साधकको एक बात और जान लेनी चाहिये कि मनुष्यकी प्रकृति स्वाभाविक ही पतनकी ओर प्रवाहित होती रहती है । इसीलिये कोई आसुरी-सम्पदाका प्रचार करना चाहे तो वह तुरंत होने लगता है, परंतु दैवी-सम्पदाका सुन्दर, सात्त्विक प्रचार करनेमें बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है । इसे समझकर सदा सावधान रहना चाहिये और एक मिनट भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये । निकम्मा तो कभी रहे ही नहीं । निकम्मा रहनेपर ही प्रमाद, आलस्य आदि दुर्गुण आ घेरते हैं । अतः जबतक मन संसारके संकल्पोंसे रहित होकर परमात्मामें नहीं लग जाता, तबतक बड़ा भारी खतरा है । हमें भगवन्नामकी खेती करनी चाहिये । भगवान्‌का नाम बीज है, जिसे हृदयके खेतमें बो देना चाहिये । चित्तकी वृत्ति जल है । चित्तवृत्तिरूपी जल सदा संसार-सागरकी ओर प्रवाहित हो रहा है, इसे उधरसे रोककर धानके खेतकी तरह हमें अपने हृदय-रूपी खेतको सींचना है । ज्यों-ज्यों उधरका प्रवाह रोककर इधर प्रवाहित किया जायगा, त्यों-ही-त्यों खेत हरा-भरा होने लगेगा । धानका खेत अधिक जल चाहता है । उसे जलसे सींचना बंद कर दिया जाय तो खेत सूख जाता है, परंतु इसमें यह विशेषता है कि यह सूखता नहीं । फिर भी सींचनेका काम कभी बंद न करे, हर समय सींचता ही रहे । जब यही काम सबसे बढ़कर है—इससे बढ़कर अन्य कोई कार्य नहीं है तब फिर इसे क्यों न किया जाय ? इसे अनवरत करता रहे ।

इस प्रकार सींचते-सींचते जब ये नन्हें-नन्हें धानके पौधे बड़े हो जायँ और उनमें बालें निकल आयें अर्थात् जब भगवद्भजन, सत्सङ्ग, ध्यान, वैराग्य और त्याग आदिमें हमारी रुचि बढ़ने लगे, तब हमें मान, बड़ाई आदि पक्षियोंसे सावधानीके साथ इस खेतकी रक्षा करनी चाहिये । इस समय अत्यधिक सावधानीकी आवश्यकता है । कहीं ऐसा न हो कि हम पक्षियोंके सुन्दर मधुर गानको सुनकर अपनेको भूल जायँ और वे पकती हुई हमारी खेतीको नष्ट-भ्रष्ट कर डालें ।

साधनकी तेजीके लिये निष्कामभाव बड़े महत्त्वकी वस्तु है । निष्कामभाव होनेपर जल्दी लाभ होता है । हमलोगोंमें स्वार्थकी मात्रा बहुत बढ़ गयी है, इसीसे साधन तीव्र नहीं हो रहा है । हरेक बातमें और पद-पदपर स्वार्थकी भावना काम करती रहती है । पाँच व्यक्तियोंके लिये बाजारसे चीज आयी तो बढ़िया हम ले लें । बँटवारा हो तो बढ़िया हमें मिले । रेलमें बैठें तो अधिक सुविधा हमें प्राप्त हो । इन साधारण लौकिक बातों-की ओर हमारा ध्यान अधिक रहता है । बातें तो ऊँची-ऊँची बनायी जाती हैं, परंतु दृष्टि गिद्धकी तरह रहती है नीचेकी ओर गंदी वस्तुओंपर । इसमें हमारा बहुत बड़ा पतन छिपा रहता है । अतः स्वार्थ-दृष्टि त्याग करके लोक-सेवाकी दृष्टिसे निष्कामभावपूर्वक संसारके काम किये जायँ तो अत्यधिक लाभ हो सकता है ।

निर्धन मनुष्यको यह नहीं समझना चाहिये कि स्वार्थका त्याग तो धनवान् ही कर सकते हैं, यदि ऐसी बात होती तब तो धनवानोंको ही भगवत्प्राप्ति हुई होती; परंतु बात तो अधिकांशमें इसके विपरीत है । जिनके पास जितना अधिक धन है, वे उतने ही अधिक संसारी और स्वार्थी हैं; अतः हम सभीको उपर्युक्त बातोंको ध्यानमें रखकर अपने साधनको सुधारते हुए उसकी चालको खूब तेज करना चाहिये । इससे आध्यात्मिक लाभ होकर शीघ्र कल्याण हो सकता है ।

लक्ष्मीजीका रक्षाबन्धन

(लेखक—पूज्य श्रीडोंगरेजी महाराज)

साढ़े तीन कदम जमीन माँगनेके लिये जानेवाले वामन भगवान्को बलिके दरवाजेपर पहरा देना पड़ा और बलिके बन्धनसे स्वामीको छुड़ानेके लिये लक्ष्मीजीको बलिके यहाँ दासी बनना पड़ा ।

बलिने उन्हें बड़ी बहनके समान स्वीकार किया और पति-मुक्तिके निमित्त लक्ष्मीजीने श्रावण-शुक्ला पूर्णिमाके दिन बलिको राखी बाँधी और रक्षाबन्धनकी भेंटके रूपमें पतिका उपहार माँगा, तभी विष्णुको मुक्ति मिली ।

भागवतकी यह कथा प्रभुको बन्धनमें रखनेकी योग्यताको सूचित करती है ।

इसी प्रसंगका स्मारक यह प्रसिद्ध मन्त्र है, जो रक्षाबन्धनमें प्रयुक्त होता है—

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः । तेन त्वामभिबध्नामि रक्षे मा चल मा चल ॥

बलि राक्षस कुलका था, किंतु वह गुरु शुक्राचार्यकी सेवा करता था ।

शुक्राचार्यकी सेवाका अर्थ है—ब्रह्मचर्यका पालन ।

शुक्राचार्यकी सेवा अर्थात् जितेन्द्रिय-जीवन । जो मनको जीत सकता है वही जगत्-विजेता बन सकता है और उसीके दरवाजेपर लक्ष्मीनारायणको दासत्व स्वीकार करना पड़ता है ।

(भागवत-प्रसादी)

मानसका भक्ति-पक्ष

(लेखक—श्रीशिवानन्दजी)

ज्ञान तथा योगके द्वारा प्रभुकी दिव्यताकी अनुभूति तो होती है, किंतु भक्तिके द्वारा प्रभुकी आत्मीयताकी प्राप्ति विशेष महत्त्वकी बात है। भक्तोंके लिये प्रेमास्पद प्रभु ही सर्वस्व हैं। प्रभुको जो जैसा भजते हैं, उन्हें वैसा ही प्रभु-प्रसाद प्राप्त होता है। प्रभुको अनन्य भक्तिका नाता मान्य है। 'मानउँ एक भगति कर नाता।' वे शुष्क ज्ञानकी पहुँचसे ऊपर हैं। राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥ पर वे ही अप्रमेय प्रभु भक्तिद्वारा सरलतासे सुलभ हो जाते हैं!

भक्त भगवान्‌को अपना जीवन समझता है और भगवान्‌के लिये ही प्राण धारण करता है। वह भगवान्‌के गुण, तत्त्व, लीला, रहस्य आदिका ध्यान एवं चर्चा करते हुए भगवान्‌की अनवरत, अपार, अनन्त कृपाको प्राप्त कर लेता है। भक्त प्रत्येक घटनाके पीछे प्रभुकी सत्ताका दर्शन करता है और सर्वत्र सब कालमें अहैतुकी प्रभुकृपाकी अनुभूति करके कृतज्ञताके भावमें गद्गद हो जाता है।

श्रीभगवान् करुणासागर एवं कृपासिन्धु हैं— 'कृपा अंबु निधि अंतरजामी'। भक्तकी व्यथा उनसे सहन नहीं होती और वे दयार्द्र होकर आतुरतासे उसकी रक्षा करते हैं। 'सीम कि चापि सकै कोई तासू। बड़ रखवार रमापति जासू।' समर्थ प्रभुकी शरणमें जानेपर भय एवं विषाद स्वयं निर्मूल हो जाते हैं। 'समरथ सरनागत हितकारी। गुनगाहक अवगुन अघहारी॥' समर्थ प्रभुका भजन भक्तको सुधन्य कर देता है—'जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य॥' प्रभुकी सामर्थ्य अनन्त है—'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।' प्रभु सहज ही गरलको सुधा, गोपदको सिन्धु बना सकते हैं—

गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥

भगवत्कृपा भक्तके लिये सदा सुलभ है। प्रभु समर्थ होकर भी कोमलचित्त एवं करुणार्द्र हैं। जिसने एक बार प्रभुका स्वभाव जान लिया, उसे वे परमप्रिय प्रतीत होने लगते हैं—

उमा राम सुभाव जिन जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

प्रभु शरणागतके साथ सदा प्रीतिका निर्वाह करते हैं—

गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥

प्रभु भक्तके प्रेमको पहचानते हैं—'बिनय सुनत पहिचानत प्रीती।' प्रभु अपने भक्तकी भूलपर ध्यान न देकर उसके भावका आदर करते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

प्रभु सदा भक्तकी भक्तिके वशमें रहते हैं— 'रघुपति भगत भगति बस अहहीं।' प्रभु अपने नीचको भी आदर देते हैं—

प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तिनु धरहीं॥

संसारमें तिरस्कृत दीनजन प्रभुके प्रिय हैं—

परम अकिंचन प्रिय हरि केरे।

प्रभुके स्वभावकी एक विशेषता यह है कि अनन्य भावसे उपासना करनेवाला भक्त उन्हें परम प्रिय होता है—

एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

यद्यपि प्रभु समदर्शी हैं, तथापि वे भक्तके प्रति विशेष भाव रखते हैं—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥

प्रभुके सदृश संसारमें अन्य कोई भी हित-सम्पादन नहीं कर सकता—

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

वे सेवकसे ही प्रीति करते हैं—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥

यों तो सभी सेवकपर प्रीति करते हैं, किंतु प्रभु तो अतिशय प्रीति करते हैं—

सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥

प्रभुको अत्यन्त नीच भक्त भी परम प्रिय हैं—

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान सम असि मम बानी॥

किंतु पवित्र मन होनेपर ही सेवक प्रभुका प्राणप्रिय होता है—

सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।

प्रभुके कोमल स्वभावके सदृश कोमल स्वभाव अन्यत्र कहीं नहीं है—

कोमल चित कृपाल रघुराई।
कोमल चित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥

प्रभु भक्तके हृदयमें पापमूल अभिमानको पनपने नहीं देते हैं तथा उसे नष्ट करके भक्तको उदात्त बना देते हैं। यह प्रभुका सहज स्वभाव है—

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

राम-कृपासे विघ्न-बाधा नहीं होते हैं—

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही।

प्रभु कृपावारिधि हैं—

जासु कृपाँ नहिं कृपा अघाती॥

प्रभु-कृपासे मनुष्य चतुर एवं सुजान हो जाता है तथा शारदा उसकी वाणीमें वस जाती है—

सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥

मन, वचन, कर्मसे भक्ति करनेपर प्रभुकृपा सुलभ हो जाती है—

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥

प्रभुकी दयासे बिना प्रयास ही कामादि विकारोंसे मुक्ति मिल जाती है तथा प्रभुकी अनुकूलता होनेपर माया प्रहार नहीं कर सकती है—

क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम कीं दाया॥
सो नर इंद्रजाल नहिं भूला। जा पर होइ सो नट अनुकूला॥

प्रभुकी कृपाके बिना मिथ्या माया भी नहीं छूटती—

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥

प्रभु-कृपासे ही प्रभुकी प्रभुताका ज्ञान होना सम्भव है, अन्यथा नहीं—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥

प्रभु-कृपाके बिना मनको शान्ति एवं विश्राम प्राप्त नहीं होते हैं—

राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्राम॥

प्रभु-कृपाके बिना भक्तिचिन्तामणि नहीं प्राप्त होती है—

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई।
राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥

राम-कृपासे समस्त मानस एवं शारीरिक रोग मिटते हैं—

राम कृपा नासहिं सब रोगा।

प्रभु-कृपाके बिना मुदमङ्गल-मूल सत्संगति भी प्राप्त नहीं होती—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥

प्रभु-कृपासे ही पुण्योदयकारक संतदर्शन होता है—

बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।

प्रभुकी कृपा होनेपर जीवको दुर्लभ मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है और अति कृपा होनेपर वह प्रभुकी ओर उन्मुख होता है—

अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाँव देइ एहि मारग सोई॥

प्रभु सच्चिदानन्द होते हुए भी भक्तोंके लिये लीला करते हैं—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥
व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥

और, वे भक्तिसे प्रसन्न होते हैं—

रीझत राम सनेह निसोते।

प्रभु भक्तके मनोगत भक्ति-भावसे ही रीझ जाते हैं—

रीझत राम जानि जन जी की।

और, वे सच्ची भावनासे सुलभ हो जाते हैं।

निगम अगम साहब सुगम राम साँचली चाह।
अंबु असन अवलोकिअत सुलभ सबै जग माँह॥

भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः।

अतः भक्तिसे ही ज्ञानकी शोभा होती है—

सोह न रामप्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥

भक्तिसे प्रभु वेग ही द्रवित होते हैं। ज्ञान-विज्ञान भक्तिके अधीन हैं—

जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

वस्तुतः भक्तिके बिना मनुष्यकी शोभा नहीं है—

भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

क्योंकि भक्तिसे ही मनके विकार धुलते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अंतर मल कबहुँ न जाई॥

और भक्तिमान् मनुष्य ही वास्तवमें पण्डित तथा गुणवान् होता है—

सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुन गृह बिग्यान अखंडित॥
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद सरोज रति होई॥

योग, तप, ज्ञान और वैराग्यसे नहीं, भक्तिसे प्रभुकी प्राप्ति होती है—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

अतः भक्तिके बिना समस्त गुण सारहीन हैं—

भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥

भक्तिसे प्रभु वशमें आ जाते हैं—

भाव बस्य भगवान सुख निधान करुना भवन।

तीर्थ, जप, योग आदिका उद्देश्य भक्तिभावको पुष्ट करना है—

जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥

वास्तवमें अन्ततोगत्वा भक्ति तथा ज्ञानमें अभेद है।

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

भक्तिचिन्तामणिसे अविद्या मिट जाती है, विष अमृत हो जाता है, खल-कामादि विकार दूर हो जाते हैं, शत्रु मित्र हो जाते हैं तथा उसके बिना सुख नहीं मिलता है।

गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥
राम भगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥
(७।१२०।७-९)

भक्ति सब सुखोंकी खान है—

सब सुख खानि भगति तैं माँगी। नहिं कोउ तोहि समान बड़भागी॥

सद्ग्रन्थोंका मत है कि भक्तिके बिना सुख प्राप्त नहीं होता—

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

भक्ति संजीवनी बूटी है, जो जीवमें प्राण-संचार कर देती है—

रघुपति भगति सँजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥

प्रभु-भक्तिके बिना भवसागर पार होना कठिन है—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।

योगी, तपस्वी, ज्ञानी, धर्मात्मा आदि कोई भी भक्तिके बिना पार नहीं होता है, मानसकार कहते हैं—

साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी। कबि कोबिद कृतग्य संन्यासी॥
जोगी सूर सुतापस ग्यानी। धर्म निरत पंडित बिग्यानी॥
तरहिं न बिनु सेएँ मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥
(उत्तर० १२४।५-८)

अतएव जो भक्तिमान् है, वही सर्वगुणसम्पन्न है—

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥

धर्म परायन सोइ कुल त्राता। रामचरन जाकर मन राता॥

इसलिये भक्त सुग्रीव भक्ति याचना करते हुए कहते हैं—

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करउँ दिनराती॥

इसी प्रकार हनुमान्‌जी निवेदन करते हैं—

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥

वेद भी वंदीरूपमें प्रभुकी स्तुति करते हैं तथा भक्तिका वर माँगते हैं—

करुनायतन प्रभु सद्‌गुनाकर देव यह बर माँगहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥

वैसे ही शिवजी भी भक्तिका वर माँगते हैं—

पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग।

सनकादि मुनि भी प्रभुकी स्तुति कर भक्तिका वर माँगते हैं—

प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम।

वसिष्ठ मुनि दृढ़ भक्तिका वर माँगते हैं—

जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटइ जनि नेह।

भक्तोंकी दृष्टिमें भक्ति मुक्तिकी अपेक्षा सौ गुनी बढ़कर होती है। 'मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने' कहा है।

भक्त प्रभुके अतिरिक्त किसी अन्यपर आश्रित नहीं रहता—

बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।

श्रेष्ठ भक्त वही है, जो किसी अन्यसे कदापि आशा नहीं करता—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥

भक्तकी गति केवल प्रभु ही हैं—

जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।

भक्तको सब संसार राममय प्रतीत होता है अतः वह किससे विरोध करे—वह सबसे प्रेम करता है।

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

शरणागतिके द्वारा भगवत्कृपाका अजस्र स्रोत भक्तकी ओर प्रवाहित होने लगता है। भगवत्कृपाका हेतु शील, ज्ञान, वर्चस्व, बल नहीं है, शरणापन्नता है। भक्तको प्रभुके विधानकी मङ्गलमयताकी अनुभूति हो जाती है तथा वह विपत्तिमें भी भगवत्कृपाका दर्शन करके प्रफुल्ल रहता है। सर्वसमर्थ प्रभुकी शरणमें जानेकी प्रेरणा देनेवाली विषादमयी विपत्ति प्रच्छन्न वरदान सिद्ध होती है—**'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'** (इष्टदेवका कोप भी वरदानके सदृश है)। भक्तके लिये उसके दोषमूलक अभिमानपर आघात (अपमान प्रतीत होते हुए भी) भगवत्कृपाका द्योतक होता है। भक्त प्रत्येक परिस्थिति-(मिथ्या दोषारोपण, दारुण दुःख, घोर अपमान, हानि अथवा सत्कार, सम्मान, ऐश्वर्यविस्तार, लाभ इत्यादि)में प्रभुकृपाका अनुभव करता है। भक्त रोगको प्राकृतिक तप मानता है। स्वर्ण तपकर शुद्ध होता है, मनुष्य दुःख उठाकर निखर जाता है। दुःखमें अहंकार नष्ट हो जाता है। अहंकारसे मुक्त होकर भक्त प्रभुका यन्त्र बन जाता है। कृष्णके स्वरको अपना स्वर बनाकर नाद करनेवाली मुरली कृष्णके मधुर अधर-पर सुशोभित रहती है। अहंकारशून्य होनेपर भक्तका प्रभुसे आत्मसात् हो जाता है। उसके मनमें ध्रुव-निश्चय होता है—'मैं प्रभुका हूँ, प्रभु मेरे हैं।' अपने-पन (आत्मीयता)का भाव भक्तिका सार है। **'वस्तुतस्तु त्वमेवाहम्'**मैं वास्तवमें वही हूँ, जो आप हैं।

भक्तकी दीनता कोई सांसारिक दयनीय अवस्था नहीं होती। दीनताका अर्थ है—अहंकारशून्यता, उदात्तता, परमोच्चता। दीनतासे दिव्यता प्राप्त हो जाती है और पाप एवं प्रारब्ध विगलित हो जाते हैं। भक्तकी दीनता श्रेष्ठ दृढ़ता होती है। दीनता प्रेमकी पूर्णताका द्योतक होती है। प्रेमकी पूर्णता ही प्रभुकी ओर उन्मुख होकर भक्तिभावमें परिणत हो जाती है—प्रेमभावनाका परिपाक

भक्तिके रूपमें होता है। संसारमें तो प्रेमका निर्वाहमात्र होता है। **'कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके'**— संसारमें छलरहित प्रेम विरल होता है। प्रेमास्पद प्रभुके साथका प्रेम अपनी पूर्णताको प्राप्त कर लेता है। भक्ति-भावसे आपूरित, प्रभुमय भक्तका प्रत्येक कर्म पूजा हो जाता है। उसके लिये प्रत्येक स्थान तीर्थ हो जाता है। प्रभु प्रेमोदधि हैं, भक्त उसकी दीप्तिमती ऊर्मि है। भक्ति नरसे नारायण बननेका श्रेष्ठ साधन है। प्रभुके ऐश्वर्य-माधुर्यका संदर्शन भक्तिके द्वारा सहज ही होता है। प्रभु अनन्त रस हैं, रससिन्धु हैं और भक्त उसकी मीन हैं। जैसे मछलियोंको जल अभीष्ट है, वैसे भक्तके लिये प्रभु अभीष्ट हैं—**हरिर्हि साक्षात् भगवान् शरीरिणामात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम्।**

(श्रीमद्भा० ७)

भक्ति अपनेमें पूर्ण होती है। भक्तिसे ज्ञान उत्पन्न हो जाता है—**'भक्त्या मामभिजानाति'**। भक्ति बौद्धिक चर्चा, व्याख्या प्रवचनका विषय नहीं है, श्रद्धा-विश्वाससे ही प्राप्य है। सिद्धजन भी श्रद्धा-विश्वासके बिना स्वान्तस्थ ईश्वरका दर्शन नहीं कर सकते हैं। भगवद्भक्त सांसारिक पुरुषार्थ सहजभावसे करता है तथा दुःख-सुखसे बाधित नहीं होता। भक्तिकी चरमावस्था होनेपर लौकिक कर्म छूट जाते हैं। भक्त अपनी इच्छाओंको प्रभु-इच्छामें विलीन कर देता है। मनुष्यकी इच्छाएँ तो उसे भटका देती हैं; क्योंकि वे अज्ञानजन्य एवं मोहजन्य होती हैं। भौतिक कामनाओंकी पूर्ति जीवनका लक्ष्य नहीं है। प्रभु-इच्छामें ही अपने कल्याणका संदर्शन करना भक्तिकी पराकाष्ठा है। भक्तकी सात्त्विक इच्छा भागवती इच्छा हो जाती है तथा भगवान् स्वयं उसकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हैं। प्रेमके ऊँचे धरातलपर पहुँचकर मनुष्यका स्वार्थ छूट जाता है और वह कामनासे मुक्त हो जाता है। कामनारहित भक्तके संकल्प शुद्ध होते हैं और वे सहज ही पूर्ण हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य प्रभुके समीप पहुँचता है, उसे दिव्यत्व प्राप्त होने लगता है। अन्ततोगत्वा भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं, यही मानसका भक्तिपक्ष है। इसीके प्रतिपादनमें पूरी रामकथा संगत हुई है। मानस भक्तिका प्रतिपादक महान् ग्रन्थ है।

भक्तिका फल

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

(श्रीमद्भागवत ५ । १८ । १२)

'जिस पुरुषकी भगवान्‌में निष्काम भक्ति है, उसके हृदयमें समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणोंके सहित सदा निवास करते हैं। किंतु जो भगवान्‌का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषोंके वे गुण कहाँसे आ सकते हैं? वह तो तरह-तरहके संकल्प करके निरन्तर तुच्छ—बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ता रहता है।'

'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णका प्राकट्य

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा श्रीकृष्णजन्माष्टमीके (सं० २०१८ वि०के) महोत्सवपर दिये गये प्रवचनका सारांश]

पूर्णेन्दुसुन्दरमुखोपरि कुञ्चिताग्राः
केशा नवीनघननीलनिभाः स्फुरन्तः।
राजन्त आनतशिरःकुमुदस्य यस्य
नन्दात्मजाय सबलाय नमो नमस्ते॥

बड़ी प्रतीक्षामें थे वे भाग्यशाली पापी असुर-दैत्य-दानव, जिनको प्रभुके परम शुभ कर-कमलोंके चारु प्रहारसे ही कलेवर त्यागकर परम गतिको प्राप्त करना था; प्रतीक्षा कर रही थी पृथ्वी माता, जो असुरों तथा असुररूपधारी राजाओंके भीषण भारसे मुक्ति पानेके लिये भगवान्से आश्वासन प्राप्त कर चुकी थी; प्रतीक्षा कर रहे थे व्यास, नारद आदि सर्वथा निर्ग्रन्थ आत्माराम ऋषि-मुनि, जिनका हृदय भगवान्की मङ्गलमयी आनन्द-मयी लीला-तरंगोंसे विक्षुब्ध मधुर मनोहर सर्वाकर्षक सच्चिदानन्दमय साकार स्वरूपका दर्शन करनेके लिये समुत्सुक था और जिनके हृदय भगवान्के भगवत्स्वरूप दिव्य लोकोत्तर गुणगणोंसे आकृष्ट होकर उनकी अहैतुकी भक्तिसे भरपूर हो रहे थे, प्रतीक्षा कर रहे थे वे ऐश्वर्य-मिश्रित माधुर्यभक्तिसम्पन्न परम भाग्यवान् देवकी-वसुदेव, जो पूर्वजन्ममें पुत्ररूपमें प्रकट होनेके लिये स्वयं भगवान्से वरदान प्राप्त कर चुके थे; प्रतीक्षा कर रहे थे वे दिव्य वात्सल्यरसपूर्णहृदय नित्य पिता-माता नन्द-यशोदा, व्रजकी वे वात्सल्यमयी गोपमाताएँ, निर्मल सख्य-रस-सम्पन्न व्रजके वे महाभाग्यवान् ग्वाल-बाल, जो केवल इसी परम सुखके लिये भूमिपर अवतीर्ण हुए थे; प्रतीक्षा कर रही थीं वे परम भाग्यवती गौएँ एवं गोवत्सादि, जिनके रूपमें देवता, ऋषि-मुनि तथा महान् पुण्यजन अवतीर्ण हुए थे और स्वयं भगवान् जिनका स्तन्य पानकर, जिन्हें वन-वन चराकर, जिनके साथ घूम-घूमकर परम दिव्य सुख देना चाहते थे; और प्रतीक्षा कर रही थीं आकुल हृदयसे वे अचिन्त्यानन्त-सौभाग्यशालिनी नित्यसिद्धा, साधनसिद्धा, कल्पोंतक कठोर तपस्या करके वरदानसे प्राप्त गोपी-शरीरवाली श्रुतियाँ, स्वयं ब्रह्मविद्या, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तथा मिथिलाकी वे गोपीभाव-प्राप्त पुरन्ध्रियाँ, जो स्व-सुख-वाञ्छासे सर्वथा रहित, सर्वत्यागमय, परम मधुर प्रीति-रसके द्वारा परमानन्दमय सच्चिदानन्दघन परम प्रियतम श्यामसुन्दर श्रीकृष्णको अनन्त सुख पहुँचानेके लिये एक-एक पल युगोंके समान बिता रही थीं। इनके अतिरिक्त और न जाने कितने प्राणी किन-किन विविध विचित्र भावोंको लेकर जिनकी प्रतीक्षा कर रहे थे, वे परात्पर सच्चिदानन्द परब्रह्म, अवतारी 'स्वयं भगवान्' अपनी समस्त स्वरूपभूता दिव्य शक्तियोंको, समस्त दिव्य अंशोंको तथा सम्पूर्ण अवतारों एवं अवतार-कारणोंको लेकर प्रकट हुए कंसके कारागारमें अर्द्ध-निशाके समय। उस समय अखिल विश्वब्रह्माण्डोंकी समस्त प्रकृति आनन्दोन्मत्त होकर अपने सम्पूर्ण अंगोंसे मधुरतम नृत्य करने लगी। सुखमय समय हो गया। शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु बहने लगी। दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं। आकाशमण्डलमें चन्द्र, ग्रह, तारे, नक्षत्र चमक उठे। धरतीके नगर, ग्राम, व्रज—सब मङ्गलके आवास हो गये। नदियाँ निर्मल स्वच्छ प्रवाहित होने लगीं। रात्रिमें भी कमल खिल उठे। वृक्ष, लताएँ पुष्पोंसे लद गये। कोयल और भौंरे निनाद और गुञ्जन कर उठे। संत-महात्मा प्रसन्न हो गये। गन्धर्व, किन्नर, राग-रागिनियाँ आलापने लग गये। सिद्ध-चारण स्तुतिगान और प्रशस्तिपाठ करने लग गये। देवोंने दुन्दुभियाँ बजायीं। विद्याधरियाँ और अप्सराएँ नाच उठीं। देवर्षिसमाज पृथ्वीका भाग्य सराहने लग गया।

ये मधुर नरके आकारमें प्रकट भगवान् अनादि हैं और सबके आदि हैं, सबसे परे हैं, सबमें अनुस्यूत हैं, समस्त कारणोंके परम कारण हैं, सर्वगत, सर्वस्वरूप हैं और सर्वातीत सच्चिदानन्द-विग्रह स्वयं परब्रह्म हैं—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
(ब्रह्मसंहिता)

'भगवान्के वे सभी रूप नित्य, शाश्वत हैं, परमात्म-देह हैं। उनके देह जन्म-मरणसे रहित हैं, स्वरूपभूत हैं, कदापि प्रकृतिजनित नहीं, वे परमानन्दसंदोह हैं, सर्वतोभावेन ज्ञानैकस्वरूप हैं। वे सभी समस्त भगवद्-गुणोंसे परिपूर्ण हैं एवं सभी दोषोंसे (माया-प्रपञ्चसे) सर्वथा रहित हैं।

श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दस्वरूपभूत श्रीविग्रहरूपसे साकार हैं, द्विभुत हैं; गोपवेशधारी हैं; वे वंशीधर हैं, नित्य-नवकिशोर, नित्यनवकमनीय-कलेवर नटवर हैं। वे लीला-पुरुषोत्तम हैं।

श्रीकृष्ण ऐश्वर्य-माधुर्यके अनन्तानन्त निधि हैं; पर उनके भी दो रूप हैं—'ऐश्वर' और 'ब्राह्म'। वे ऐश्वर-रूपसे असुरोंका संहार, लोकधर्मका संस्थापन एवं अभ्युत्थान, साधु-परित्राण दुष्टदलन आदि लीला-कार्य करते हैं और 'ब्राह्म' स्वरूपसे माधुर्यका विस्तार करते हैं। उनके रूप-गुण-सौन्दर्य-माधुर्य इतने दिव्य चमत्कारपूर्ण तथा नित्यनव रूपमें प्रकट हैं कि वे निर्ग्रन्थ ऋषि-मुनियों, देवताओं, समस्त लक्ष्मियों—यहाँ-तक कि भगवत्स्वरूपोंको भी आकर्षित किये रहते हैं। दूसरोंकी बात तो दूर रही, उनकी वह परममधुर अनिर्वचनीय सुन्दरतारूप आकर्षिणी शक्ति स्वयं उन्हींके चित्तको आकर्षित और प्रलुब्ध कर देती है—

अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी
स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः।
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः
सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव॥
(ललितमाधव)

किसी मणिकी दीवालमें या दर्पणमें प्रतिबिम्बित अपनी रूपमाधुरीको देखकर श्रीकृष्ण आश्चर्यके साथ कहते हैं—'अहो! इस माधुरीका तो इससे पहले मैंने कभी अनुभव ही नहीं किया! मेरी यह माधुर्यराशि कितनी चमत्कारजनक है, कितनी महान् श्रेष्ठ है और कितनी मधुर है! इसे देखकर तो मेरा चित्त लुब्ध हो गया है। (श्रीराधिका इसे देखते-देखते कभी थकती नहीं, निर्निमेष नेत्रोंसे परम उत्सुकताके साथ नित्य-निरन्तर देखा ही करती हैं—इससे अनुमान होता है, वे ही इस रूप-माधुरीका पूरा रसास्वादन करती हैं।) अतएव मैं चाहता हूँ कि मैं भी श्रीराधिकाजीकी भाँति ही परम उत्सुकताके साथ इसका उपभोग करूँ।'

अखिलरसामृतसिन्धु श्रीकृष्णके माधुर्यका वर्णन करनेके लिये भाषामें न शब्द हैं, न शक्ति ही। इसको तो जिसने देखा है, वही जानता है, पर वह भी बता नहीं सकता, क्योंकि उसका हृदय ही सदाके लिये इस रूपमाधुरीके द्वारा अपहृत कर लिया जाता है।

ईसाई भक्त माइकेलने क्या ही अच्छा कहा है—

जिसने देखा कभी नयनभर मोहन-रूप बिना बाधा।
वही जान सकता है क्योंकर कुल-कलङ्किनी है राधा॥

वह रूपमाधुरी सर्वस्व हरण कर लेती है, क्षणभरमें। परम-प्रेमी भक्त लीलाशुक श्रीबिल्वमङ्गल गाते हैं—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोर्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्॥

प्रातःस्मरणीय श्रीवल्लभाचार्य सर्वत्र मधुरता देखते हुए—

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम्।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥

—इत्यादि शब्दोंसे उनकी सर्वाङ्गीण मधुरताका संकेत करते हैं। महाप्रभु चैतन्यके द्वारा कथित शब्दोंका कुछ भाव है—

कृष्ण-अङ्ग लावण्य मधुरसे भी सुमधुरतम।
उसमें श्रीमुख-चन्द्र परम सुषमामय अनुपम॥
मधुरापेक्षा मधुर, मधुरतम उससे भी अति।
श्रीमुखकी मधु सुधामयी ज्योत्स्नामयि सुस्मिति॥

इस ज्योत्स्ना स्मिति मधुरका एक एक कण अति मधुर।
होकर त्रिभुवन व्याप्त जो बना रहा सबको मधुर॥

श्रीकृष्णकी ज्योत्स्नामयी मधुर मुसकानके कण-मात्रसे ही जगत्‌में जहाँ-तहाँ माधुर्यका विस्तार दीखता है। इनका मन्दस्मित ही जगत्‌में सम्पूर्ण आनन्द-विधान करता है। अन्यथा, जगत् तो दुःखमय है ही।

अतएव भगवान् श्रीकृष्णमें ऐश्वर्य-माधुर्य दोनोंका ही पूर्णतम प्रकाश है—तथापि रस-जगत्‌में माधुर्यकी ही प्रधानता है; क्योंकि सब लोग वस्तुतः रस ही चाहते हैं, सब रसका ही अन्वेषण करनेमें लगे हैं। अवश्य ही, इस परम पवित्र भगवद्रसका संधान न होनेके कारण वे 'रस' नामको दूषित करनेवाले विषय-भोगोंके कुरस (कुत्सित रस), विरस (विपरीत रस) और अरस (सर्वथा शुष्क) का ही आस्वादन करते हैं और इसलिये उनका जीवन अत्र-पत्र-सर्वत्र पाप-दोषमय, दुःख-ज्वालामय, उद्वेग-अशान्तिमय और नरकयन्त्रणामय हो जाता है। मनुष्य इससे बचे और यथार्थ रस—भगवद्रूप-रस **'रसो वै सः'** को प्राप्तकर धन्य, सफल और सुखी जीवन हो जाय—इसीलिये श्रीनारदजीके उपदेशसे व्यासजीने रसराज भगवान्‌की परम मधुर लीला-कथाका पवित्र स्रोत बहाया और महाभागवत श्रीशुकदेवजीने मुमूर्षु राजा परीक्षित्‌को अगाध रसनिधिमें डुबाकर धन्य कर दिया। यह दिव्य रस भगवान्‌के माधुर्यमें ही है। अतएव माधुर्य ही प्रधान है—वैसे तो भगवान् श्रीकृष्णका ऐश्वर्य भी वस्तुतः माधुर्यके अनुगत ही है। उनके ऐश्वर्यका अणु-परमाणु भी माधुर्यसे ही सिंचित है। इसीसे श्रीकृष्णका ऐश्वर्य अन्य स्थलोंके ऐश्वर्यकी भाँति कदापि भयप्रद नहीं है। लोग भूलसे ऐश्वर्यमें ही भगवत्ता देखते हैं, पर श्रीकृष्णमें ऐश्वर्य-लीला ऐसी माधुर्य-मण्डित है कि वह परम भगवत्ताका प्रकाश करती हुई भी भगवान्‌को गौरव-गरिमारहित, अपना 'निज जन' बना देती है। भक्त उनको अपना मानकर उनके चरणोंमें लोट पड़ता है, उन्हें आलिंगन करने लगता है, उनके हृदयसे लिपट जाता है, उन्हें गोदमें बैठा लेता है, स्वयं उनकी गोदमें बैठ जाता है, उनके गलबैयाँ देकर चलता है, साथ खाता-पीता है, एक साथ विहार करता है और भगवान् सर्वगुण-गौरवमय होते हुए भी, यह सब सानन्द समुत्सुकताके साथ स्वीकार करते हैं—छल-कपटसे नहीं, मायासे नहीं, अभिनयके रूपमें नहीं, पर स्वयं ऐसे ही बनकर; केवल प्रेमरसका मधुर आस्वादन करने-करानेके लिये।

जन्माष्टमीका उत्सव इन्हीं समग्र भगवान्, 'स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण'का प्राकट्य महोत्सव है। यह स्मरण रखिये कि भगवान् श्रीकृष्ण कर्मवश जन्म लेनेवाले पाञ्चभौतिक देहधारी जीव नहीं हैं। ये नित्य सत्य सनातन सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। देह-देही-भेदसे रहित हैं। परस्पर-विरुद्ध-धर्माश्रय होनेके कारण इनमें जागतिक भावोंके दर्शन होते हैं, पर इनके वे जागतिक भाव भी वस्तुतः चिदानन्दमय भगवत्स्वरूप ही हैं।

आप जिस रूपमें इनको देखना चाहें, देख सकते हैं, इनसे सम्बन्ध-स्थापन करना चाहिये, कर सकते हैं। ये सभी सम्बन्ध स्वीकार करनेको प्रस्तुत हैं। पर सम्बन्ध होना चाहिये अनन्य, अव्यभिचारी, पूर्ण तथा आत्माका, बाहरका नहीं। दिखावेका नहीं।

ये हमारे हैं, हम इनके हैं। भगवान्, सबमें समान होते हुए भी, जो इन्हें प्रेमसे भजता है, उसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं और स्वयं उसके हृदयमें बसे रहते हैं—**'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** (गीता) इतना ही नहीं, वे स्वयं उसका हृदय बन जाते हैं और उसे अपना हृदय बना लेते हैं। श्रीमद्भागवत (९। ४। ६८) में उनके वचन हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

'वे (प्रेमी) साधु मेरा हृदय हैं और मैं उन साधुओंका हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त किसीको नहीं जानते और मैं भी उनके सिवा किसीको नहीं जानता। श्रीकृष्णके प्राकट्यका यही स्वारस्य है।

मृत्युसे डरनेकी आवश्यकता नहीं

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

आज यूरोप-अमेरिकामें वैभवके चकाचौंधमें एक नयी धारा निकल पड़ी है, वह है—मृत्युकी तैयारी। मृत्युकी प्रतीक्षामें अपने जीवनकालमें ही अपने सब मृत-संस्कार कर लेनेकी प्राचीन भारतीय परिपाटी रही है। अभी भी प्रतिवर्ष सैकड़ों हिंदू अपने सामने अपना पूरा संस्कार कर डालते हैं। पर ऐसा कार्य कभी-कभी विदेशोंमें भी पहले सुननेको मिलता था। सैकड़ों वर्ष पूर्व स्पेनके एक सम्राट्ने अपने दफनानेका कार्यक्रम निर्धारित किया। उनकी शवयात्रा हुई। लोग रोते-पीटते चले, राजाने स्वयं अपनी अर्थीको कंधा दिया, फिर वे शवके डब्बे—काफिनमें लेट रहे और दफनाये जानेतककी पूरी क्रिया सम्पन्न हुई। वास्तवमें वे यह अनुभव करना चाहते थे कि मृत्यु कैसी होती है और उसके बाद शव-यात्रामें मृतकको कैसा लगता है।

ब्रिटेनके प्रसिद्ध दार्शनिक बर्टेण्ड रसेल (Burtend Russel) तथा इतिहास और उपन्यासलेखक एच० जी० वेल्सने स्वयं अपनी मृत्युके बाद अखबारोंमें छपनेके लिये संवाद लिख डाला था। वेल्सने तो यहाँतक लिखा कि 'हर्बर्ट जार्ज वेल्स शनिवारकी संध्याको ५ बजे शान्तिपूर्वक मर गये।' विश्वप्रसिद्ध सोमरसेट माम लेखकने भी ऐसा ही मसविदा अपनी डायरीमें लिख दिया था। हालमें ही एक धनी अमेरिकन व्यापारीको उनके डाक्टरने बतलाया कि वे सात दिनसे अधिक जीवित न रहेंगे। उन्होंने इन सात दिनोंको व्यय किया अपनेको दफनानेके लिये, एक-से-एक बढ़िया डब्बा—काफिन चुननेमें; ताकि जितने अधिक आरामसे उसमें सो सकें, वही उपयोगमें आये।

ये सब तैयारियाँ एक ओर जहाँ मृत्युकी प्रतीक्षाकी बोधक हैं, वहीं उसके प्रति मानवके भयकी सूचक भी है। यह सब जानते हैं कि मरना है; मृत्यु रुक नहीं सकती। पर यह जानते हुए भी उससे मुँह छिपानेकी हमारी आदत है। जितना उस भयंकर दिनको, जिस दिन हम नहीं रहेंगे, भुलाया जा सके, उतना ही अच्छा लगता है। पर हमारे शास्त्र बार-बार चेतावनी देते हैं कि मनुष्य यह समझकर कि मौतने केश पकड़ रखे हैं, धर्मका आचरण करे—**गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।** (हितोपदेश, प्रस्ता० ३) अब तो पाश्चात्त्य देशोंमें भी मृत्युकी तैयारीकी चर्चा जोरोंपर है। अमेरिकन पाठशालाओंमें बच्चोंको पाठ्यक्रममें 'मृत्यु' भी एक विषय है। मृत्यु क्या चीज है, उसकी तैयारी कैसे की जाय, यह विषय बच्चोंको भी सिखाया जाता है। इससे कितना लाभ होता है, यह तो नहीं कहा जा सकता; पर यह अवश्य है कि मृत्यु अध्ययनका एक विषय हो गया। माल्कम मगरिज नामक प्रसिद्ध लेखकका कथन था कि 'कामवासनासे कहीं अधिक रोचक विषय मृत्यु है। मृत्यु-वासना संसारका सर्वोपरि विषय है।'

अंधा मनुष्य

चोरी, लूट और डकैतीके युगमें मनुष्य मृत्युको भूल गया है। कबीर लिख गये कि—

'खबर नहीं या जुगमें पल की।
सुकृत कर ले, नाम सुमर ले, को जाने कलकी।'

कबीरने सत्य लिखा है कि—

'पानी बीच बतासा सन्तो, तनका यही तमासा है।'

इसी तरहकी शब्दावलीमें कबीरके ये वाक्य हैं—

यह तन धन कछु काम न आई
ताते नाम जपो लौ लाई।
कहइ कबीर सुनो मोरे मुनियाँ,
आप मुये पिछे डूब गयी दुनियाँ।

कबीरकी ये मार्मिक पङ्क्तियाँ हमलोग क्यों भूल जाते हैं—

प्रान राम जब निकसन लागे, उलट गयी दोउ नैन पुतरिया।
भीतरसे जब बाहर लाये, छूट गयी सब महल अटरिया॥
चार जने मिलि खाट उठाइन, रोवत ले चले डगर-डगरिया।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो, संग चली इक सूखी लकरिया॥

सब कुछ प्राप्त कर लेनेके बाद केवल सूखी लकड़ी ही साथ चलती है। ऐसी भूल हम जीवनभर करते रहते हैं, इसीलिये उर्दू कवि 'आजमी' कहते हैं—

मौत आई, हमें खबर न हुई।
ऐसी गफलत तो उम्र भर न हुई॥

कपिलने सांख्यसूत्रमें सम्भवतः इसीलिये सब बातोंका निचोड़ हमारे लिये कहा है—

नास्मि, न मे, नाहम्।

'न तो मैं हूँ; न मेरा कोई है। 'मैं' कुछ होता ही नहीं। पतञ्जलिने हमें प्रत्याचारकी शिक्षा दी है। बाहरको जानेकी जिनकी आदत पड़ गयी है, ऐसी मानसिक वृत्तियों (इन्द्रियों)का विषयोंसे रिश्ता तोड़कर उन्हें अन्तर्मुख करनेको प्रत्याहार कहते हैं।' इन्द्रियोंको बाहर जानेसे रोक दे, पर नित्यकर्म करता रहे, तभी जीवन सार्थक होता है। जैमिनिने मीमांसा-सूत्रमें स्पष्ट लिखा है कि समाजके प्रति कर्तव्योंको पूरा करनेसे ही मनुष्य प्रत्यवायसे बच सकता है। प्रत्यवायका अर्थ पाप होता है।

मनुष्य प्राण निकलनेसे घबड़ाता है; पर हम क्यों भूल जाते हैं कि प्राण प्राण-वायु नहीं है। छान्दोग्य-उपनिषद्के अनुसार प्राणका अर्थ ब्रह्म होता है और बादरायणके वेदान्त-सूत्र (१।१।२३)के अनुसार अन्तमें सब वस्तुओंको इसी ब्रह्ममें लीन होना है। **'अत्ता चराचरग्रहणात्' 'अतएव प्राणः', 'सर्वोपेता च दर्शनात्'**। महाप्रलयमें जीव मोहमें पड़ा ब्रह्मके साथ ही रहता है; पर साधनोंद्वारा ज्ञानी जीव शरीर छूटते ही मुक्त हो जाता है—**'न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते** (छान्दोग्य उप०)। अक्षपादने इसकी प्रक्रिया बतलाते हुए लिखा है कि प्रवृत्ति तीन प्रकारकी होती है—वाचिक, मानसिक और कायिक। राग, द्वेष और मोह—ये दोष हैं, जो कर्मकी प्रवृत्ति कराते हैं। प्रवृत्ति और कर्मोंसे फलितको फल कहते हैं। शरीर जबतक है, फल भोगना पड़ता है। फलका नाम ही दुःख है। दुःखसे पूर्ण मुक्ति—'अत्यन्त विमोक्ष' ही अपवर्ग कहलाता है। मृत्यु हमें दुःखसे मुक्ति देती है। जबतक शरीर है, मन नचाता रहता है। जिसने मनको जीत लिया, उसने संसारको जीत लिया। सन्त एकनाथ कह गये हैं—

जेवि हिरेनि हिरा चिरिजे तेवि मनेचि मन धारिजे॥

जिस प्रकार हीरेसे हीरा चीरते हैं, उसी प्रकार मनसे मन वशमें होता है। संतवाणीसंग्रहमें कहा गया है—

आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह॥

पर, मृत्युसे डरनेवाले अपने सबसे बड़े शत्रु मनसे नहीं डरते। जैन-आचार्य कुन्द-कुन्द कहते हैं—**'संयम बिनु घड़िय म इक्क जाहु'** बिना मनपर संयम किये एक क्षण भी नहीं बिताना चाहिये। पर मनुष्य इतना जड़ है कि पुण्यका फल चाहता है, पुण्य नहीं करना चाहता। गुणभद्राचार्यका कथन है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।

बौद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद'में लिखा है कि जिस प्रकार ग्वाला गायोंको बड़े डंडेके सहारे चराता रहता है, उस प्रकार जरा और मृत्यु उम्रको चराती रहती हैं—

यथा दण्डेन गोपालो गावो पचिति गोचरे।
एवं जरा च मच्चुच आयुं पचन्ति पाणिनं॥

(धम्मपद ४९)

महान् हिंदू-धर्म

आर्य सनातनी हिंदुओंके शास्त्र अनन्त वारिधिके समान इतने विशाल और अक्षय हैं कि आजतक इन धर्म-ग्रन्थोंके शब्दोंकी संख्या गिनी नहीं जा सकी। वेदके मन्त्र या पुराणोंके श्लोकोंकी संख्याके बारेमें भी मतान्तर हैं। पर हम यह जानते हैं कि बौद्धसूत्रोंकी संख्या ढाई लाखके लगभग है और उनमें २,२९,६८,००० अक्षर हैं। (५ कल्पसूत्र तथा ४५ आगमके) जैनसूत्रसिद्धान्त लगभग ६,००,००० सूत्रोंमें हैं। बाइबिलमें ३५,६७,१८० अक्षर हैं। पर हमें कहीं कुछ सीखने-खोजने नहीं जाना है। हम अपने वेदादि धर्मग्रन्थोंके महासागरमेंसे कुछ भी चुन लें तो हमारे नेत्र खुल जायँगे और हमारी हर गुत्थी सुलझ जायगी, हर समस्याका समाधान मिल जायगा। मृत्यु वरदान तथा जीवन एक समस्या प्रतीत होगा। उस समय हम समझ जायँगे कि—

आप अकेला अब तरै, मरै अकेला होय।
यूँ कबहूँ इस जीवका साथी सगा न कोय॥

तब यह हमारी समझमें आयेगा जैसा–कि विषयोंमें अनुराग ही बन्धन है अद्वैतामृत उपनिषद् कहती है —'विषयानुराग एव बन्धः'। जब हम विषयोंसे विरक्त हो जायेंगे, तब यह मृत्यु ही हमें इस बन्धनसे सदाके लिये छुड़ा सकती है। यदि कर्म, संस्कार तथा प्रवृत्तिका क्षय हम कर सकें तो आवागमन नहीं लगा रहेगा। कितनी भी उम्र हो गयी हो, छुटकारा पानेका समय हमेशा है। 'स्वरूपबोध उपनिषद्'का कथन है—

'सामेन्द्रो मेध्या स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणी भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्राह्मणः कोशोसि मे यथा पिहितः। श्रुतं मे गोपाय॥'

अर्थात्—अमरत्वको देनेवाला मुझे ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो। मेरा शरीर इतना पुष्ट तथा सक्रिय हो कि ब्रह्म-ध्यान तथा चिन्तन कर सकूँ। मेरी जीभ सदैव शुभ वचन बोले। मेरे कान बहुत कुछ (पुण्य वचन) सुनें। ब्रह्मका कोश मेरी बुद्धिमें छिपा पड़ा है। मैंने जो कुछ (सद्वचन) सुना है, वह मेरे मस्तिष्कमें सुरक्षित रहे। यह है कल्याणकारी, प्रेरक प्रार्थना, जो सबको मनसे करनी चाहिये।

जिस प्रकार शक्तिकी उपासना, जो किसी देवीकी हो या सकाम तान्त्रिक साधना हो वह, बिना सविधि देवी-पुत्र वटुकपूजनके सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार भगवान् राम, कृष्ण, शिव या किसी आराध्यकी उपासना बिना 'सद्बुद्धि' माँगे अधूरी रहती है। जो सद्बुद्धि माँगेगा, वही मृत्युके ऊपर उठकर मृत्युको भयावह वस्तु न समझकर उसका सहर्ष आलिङ्गन करनेकी तैयारी करेगा। वटुक-उपासनाकी बड़ी सुन्दर विधि है, जिसे आज अधिकतर उपासक नहीं जानते। इसी प्रकार भक्तिमार्गके पथिक भक्तिका अन्तिम लक्ष्य भूल जाते हैं। काकभुशुण्डिने कहा था कि मैं निश्चित-रूपसे कहता हूँ कि जो लोग हरिका भजन करते हैं वे ही इस दुस्तर संसारको पारकर लेते हैं—

विनिश्चितं वदामि ते न चान्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥

क्योंकि भगवद्भजनसे ही अन्ततः बुद्धि निर्मल होती है। मनमें एकाग्रता आती है। हम कहते हैं कि हम पुरुष हैं, पर पुरुषका अर्थ क्या है? जो संसारमें प्रत्येक सत्ताका साक्षी होते हुए भी सो रहा है, उससे निर्लिप्त है, वही पुरुष है।

शिवः आत्मा पुरुषः। साक्षी चैतन्यः पुरुषः। पुरीषु शेते यः स पुरुषः। प्रत्येकसत्तासु साक्षी-रूपेण यः सुप्तः स एव पुरुष उच्यते॥

श्रीरामकी शिवोपासना

(लेखक—पं० श्रीवैद्यनाथजी अग्निहोत्री)

(२)

[अङ्क ६, पृ०-सं० २२३से आगे]

श्रीरामकी अनन्य भक्तिसे भगवान् शंकर प्रसन्न थे । वे वृषभ-वाहनपर आसीन थे । उनके वामभागमें जगन्माता पार्वती सुशोभित थीं । दिव्य गन्ध, दिव्य वस्त्र और मुक्ताभरणयुक्त दिव्य आभूषण धारण किये थीं । स्वशक्तिसंयुक्त भगवान् शंकर मानो सौन्दर्यसारसर्वस्व थे । उनके चतुर्दिक् गन्धर्व गान कर रहे थे । दिक्पाल, इन्द्रादि देवता अपनी-अपनी पत्नियोंसहित स्व-स्व वाहनोंपर स्थित भगवान् शंकरकी स्तुति कर रहे थे । आगे शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये हुए, श्याम-प्रकाश भगवान् विष्णु गरुड़पर स्थित थे । उनके वाम-भागमें विद्युत्-कान्ति-सदृश लक्ष्मीजी विराजमान थीं । वे रुद्राध्यायका एकाग्र मनसे पाठ कर रहे थे । पीछे हंस-वाहनपर स्थित चतुर्मुख ब्रह्मा सरस्वतीसहित चतुर्वेदस्थित रौद्रसूक्तसे भगवान् महेश्वरकी स्तुति कर रहे थे । मुनि-मण्डली अथर्वशिर उपनिषद्द्वारा महादेवकी स्तुतिमें लीन थी । पर्वतोपम मूषकारूढ श्रीगणेश दक्षिणभागमें और मयूरारूढ श्रीकार्तिकेय उत्तरभागमें विराजित थे । इसी प्रकार महाकाल, चण्डेश, सिद्ध, विद्याधर, नारदादि ऋषि भगवान् शिवकी त्र्यम्बक और पञ्चाक्षरादि मन्त्रोंसे आराधना कर रहे थे । भगवान् श्रीराम यह देखकर आनन्दमग्न एवं कृतार्थ हो गये । उन्होंने महादेवकी स्तुति दिव्य सहस्र नामसे की और बार-बार प्रणाम किया ।

उसी समय आकाशमण्डलसे एक दिव्य रथ उतरा । भगवान् शंकर जगदम्बिकासहित वृषभसे उतरकर रथमें बैठ गये । उन्होंने श्रीरामको भी रथपर बैठा लिया । फिर दिव्य धनुष, अक्षय तूणीर तथा महापाशुपतास्त्र श्रीरामको दिये और कहा—'राम ! यह महापाशुपतास्त्र समस्त संसारका विनाशक है, इसे सामान्य समरमें कभी प्रयोग न करना । इसका उपशमन सम्भव नहीं है । प्राण-संकट उपस्थित होनेपर ही इसका प्रयोग करना चाहिये ।'

भगवान् शंकरकी प्रेरणासे नारायणने नारायणास्त्र, इन्द्रने वज्र, ब्रह्माने ब्रह्मदण्ड, यमने मोहास्त्र, वरुणने वरुणपाश प्रदान किये । इसी प्रकार अन्य देवताओंने भी श्रीरामको अस्त्र-शस्त्र दिये । श्रीरामने प्रसन्नचित्त होकर भगवान् शंकरको प्रणाम किया और कहा—'भगवन् ! मानवके लिये समुद्रोल्लङ्घन सम्भव नहीं, लंकाका दुर्ग तो देव-दानवोंके लिये भी अजेय है, वहाँ करोड़ों बलवान् राक्षस वेदाध्ययनशील, शिवभक्ति-संयुक्त तथा अग्निहोत्रादि कर्ममें निरत रहते हैं । उन्हें मैं अकेले किस प्रकार जीत सकूँगा ?'

'राम ! तुम्हें इस विषयमें कुछ भी विचार नहीं करना चाहिये । क्योंकि वे देव-ब्राह्मण-पीडन—अधर्ममें प्रवृत्त हैं, इस कारण उनकी आयु क्षीण हो गयी है और उनकी श्री भी समाप्त हो गयी है—

अधर्मे तु प्रवृत्तास्ते देवब्राह्मणपीडने ।
तस्मादायुः क्षयं याति तेषां श्रीरपि सुव्रत ॥

(सूतसंहिता)

'अधर्मी-शत्रु भाग्यसे प्राप्त होता है । वेदाध्ययनशील तथा धर्मनिरत भी विनाश-काल आनेपर धर्म-मार्गसे च्युत हो जाता है । परस्त्रीगामी तथा मद्यपीको युद्धमें जीतना सरल कार्य है । किष्किन्धामें देवताओंके अंशसे बहुत वानर उत्पन्न हुए हैं, जो बड़े बलवान् हैं । वे तुम्हारी सहायता करेंगे । उनके द्वारा सागरमें सेतु-निर्माण करो ।

उससे वानर-सेना सागर लाँघ जायगी। रावण-वधकर अपनी प्रिया सीताको ले आओ। साधारण अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा विजय होगी, कोई चिन्ता न करो'—भगवान् शंकरने कहा।

'प्रभो! क्या बिना प्रयासके ही विजय सम्भव है?' श्रीरामने आशङ्का व्यक्त की।

राम! मेरे द्वारा संसार उत्पन्न होता है, मैं ही पालन करता हूँ और मेरे द्वारा ही संहार होता है। मैं ही मृत्युका मृत्यु हूँ। मुझसे अतिरिक्त किसी अन्यकी सत्ता नहीं है। युद्धदुर्मद राक्षस मुझ मृत्युके मुखमें हैं, सब हतप्राय हैं। तुम निमित्तमात्र होकर कीर्ति तथा जयलक्ष्मीका वरण करो। तुम्हें कोई प्रयास नहीं करना होगा।' भगवान् शंकरने समाधान किया।

'भगवन्! आप शुद्ध स्फटिकवत्, त्रिनेत्र, चन्द्रशेखर, पुरुषरूपसे अम्बिकासहित विराजमान हैं। एकदेशमें स्थित होनेके कारण परिच्छिन्न हैं। फिर आपके द्वारा पञ्चमहाभूतादि चराचर जगत् कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? यदि मेरे ऊपर अनुग्रह हो तो इसे बतलाइये। मुझे अतीव आश्चर्य हो रहा है।' श्रीरामने जिज्ञासा की।

'महाभाग! यह रहस्य देवताओंके लिये भी दुर्ज्ञेय है। किंतु तुम्हारी भक्ति तथा ब्रह्मचर्यसे प्रसन्न होकर कहता हूँ। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि देवगण, यक्ष, राक्षस, ऋषि, मुनि, सागर, पर्वत, नद, नदी, वृक्ष, लता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि तथा पञ्चमहाभूतादि चौदह भुवन सब मेरी विभूति हैं। यह सब भगवत्स्वरूप हैं। मुझसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। इस सृष्टिके पूर्व भी मैं त्रिकालापरिच्छिन्न था, वही वर्तमानमें हूँ और सृष्टिके विनष्ट होनेपर भी रहूँगा। रज्जुसर्पाधिष्ठानके समान मैं ही सबका अधिष्ठान हूँ और ईश्वर भी हूँ। मुझ अखण्ड, सच्चिदानन्द, ब्रह्मस्वरूपमें सभी विवर्तित हैं। मैं ही आगे-पीछे, दाहिने-बायें और ऊपर-नीचे हूँ। यह त्रिनेत्र पुरुषाकार रूप मैंने ब्रह्मादि देवताओंके दर्शनेच्छासे धारण किया है। यह लीलाविग्रह मायिक है। इस प्रकार मुझ परमात्मस्वरूपको हृदयकमलमें निष्कल, अद्वितीय, सर्वसाक्षी, सदसद्विहीन जानकर, शुद्धपरमात्मरूप मुझको प्राप्त होता है—

> एवं विदित्वा परमात्मरूपं
> गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्।
> समस्तभावे सदसद्विहीनं
> प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्॥
> (सूतसंहिता ४।८।५३)

भगवान् शंकरने वास्तविक स्थिति स्पष्ट की।

'भगवन्! आपकी देह परिच्छिन्नपरिमाणयुक्त है। इससे पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लय कैसे हो सकती है? इसे आप पुनः समझानेकी कृपा कीजिये।' श्रीरामका प्रश्न था।

'राम! सुसूक्ष्म-वट-बीजमें, महावट-वृक्ष कैसे रहता है, यह बतलाओ? उस बीजमें वृक्ष कहाँसे आ जाता है? असत्-वृक्षकी तो उत्पत्ति सम्भव नहीं; क्योंकि असत्की सत्ताका अभाव है। सत्की ही अभिव्यक्ति होती है—जैसे संकुचित मायारूप मुझ शरीरमें जगत्-भाव रहता है। मेरी अनन्तशक्ति माया-द्वारा पञ्चभूतादि जगत् उत्पन्न हो जाता है। इसे इस प्रकार भी समझो—जैसे महासैन्धव पिण्ड जलमें छोड़नेपर विलीन हो जाता है और पकानेपर पुनः प्रकट हो जाता है, वैसे ही मेरा मायामय शरीर विलीन होता है और पुनः प्रकट होता है। देश, काल तथा शरीरादि—समस्त परिच्छिन्न पदार्थ मेरी अनिर्वचनीय, अनन्त शक्तिसे उत्पन्न होते हैं। मेरा देश, काल तथा वस्तुसे अपरिच्छिन्न स्वरूप है और माया द्वारा देश, काल तथा वस्तु परिच्छिन्न स्वरूप भी है। समस्त देश, कालादि मुझमें हैं, मुझमें ही विलीन होते हैं; अतः मत्स्वरूप ही हैं।' भगवान् शंकरने सदृष्टान्त समझाया।

'देवदेव ! पञ्चमहाभूतोंसे देहोत्पत्ति, स्थिति तथा विलय कैसे होती है ? इसे बतलानेकी कृपा कीजिये ।' श्रीरामने जिज्ञासा की ।

यह देह पञ्चभूतोंसे आरब्ध होनेके कारण पाञ्च-भौतिक कहा जाता है । शरीरमें पृथिवीकी प्रधानता है । अन्य चारों भूत सहकारी हैं । अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज तथा जरायुज चार प्रकारके शरीर होते हैं । मानस देह भी होते हैं । पुरुषार्थ-साधनमें जरायुज देह प्रधान है । स्त्रीके ऋतुकाल-समयमें शुक्र तथा रजके सम्मिलित होनेपर शरीरकी उत्पत्ति होती है । शुक्रकी अधिकतासे पुरुष, रजोधिक्यसे नारी और दोनोंके समान होनेपर नपुंसक उत्पन्न होता है । ऋतुस्नाता साकाङ्क्ष स्त्री जिस पुरुषका मुख देखती है, उसीके आकारका गर्भ होता है । प्राणियोंके कर्मानुसार तत्-तत् कुल, वर्ण तथा स्त्री आदिमें उसका जन्म होता है । स्त्रीके रजसे पुरुषका शुक्र संयुक्त होनेपर प्रथम मासमें द्रवरूप होता है । द्रवसे बुद्बुद, बुद्बुदसे मृदुल मांस, अनन्तर पेशी और पेशीसे कठिन होता है । द्वितीय मासमें पिण्डरूप हो जाता है । हाथ-पैर, शिरादि तृतीय मासमें बनते हैं । सुख-दुःखादिकी अभिव्यक्ति चतुर्थ मासमें होती है । शरीरमें जीव-सम्बन्ध होनेपर माताके गर्भमें जीव चलता है । यदि पुत्र हो तो दक्षिण पार्श्वमें, कन्या वाम पार्श्वमें तथा नपुंसक मध्य भागमें स्थित रहता है । श्मश्रु-दन्तादि छोड़कर अन्य सभी अङ्ग चतुर्थ मासमें व्यक्त हो जाते हैं । जिस विषयमें माताको लोभ होता है, उसी विषयमें पुत्रको भी लोभ होता है । पञ्चम मासमें मांस-शोणित पुष्ट हो जाते हैं और चित्त अधिक ज्ञानयोग्य होता है । षष्ठ मासमें अस्थि, स्नायु, नख, केश तथा लोम स्पष्ट भासित होने लगते हैं । सातवें मासमें बल, वर्ण तथा अङ्गपूर्णता होती है । जीव गर्भके दुःखानुभवसे उद्विग्न होता है । वह जन्म-मरणके दुःखोंका स्मरणकर भयसे कम्पित हो जाता है । कष्टोंसे अनुतप्त होकर बार-बार आत्माको सोचता है । गर्भस्थ बालक माताके जठरानलसे संतप्त होता, कृमियोंसे दुःखी होता तथा गर्भकी दुर्गन्धसे कुम्भीपाक नरकवत् दुःखित होता रहता है । नरकसे भी अधिक दुःख गर्भस्थ बालकको होता है । वह मोक्षोपायका ध्यान करता हुआ कहता है—'यदि गर्भवाससे छुटकारा हो तो मैं मोक्षके लिये महेश्वरका ज्ञान-ध्यान करूँगा ।' आठवें मासमें त्वक् आदि तथा हृदयमें ओज-तेजका निर्माण होता है । ओजके कारण गर्भमें इधर-उधर चलता है । नवम मासमें गर्भसे बाहर आता है । यहाँ उसे पुनः बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था तथा मरणावस्था प्राप्त होती है । कर्मानुसार सुख-दुःख-भोग और तदनुसार मरण होता है । इस प्रकार जन्मका बीज मरण तथा मरणका बीज जन्म, निरन्तर घटीयन्त्रवत् घूमते रहते हैं ।' भगवान् शंकरने समझाया ।

'भगवन् ! देहमें चेतनजीव कैसे स्थित रहता है ? कैसे उत्पन्न होता है और जीवका स्वरूप क्या है ?' श्रीरामने प्रश्न किया ।

'महाभाग ! सत्य, ज्ञानानन्त, नित्य, शुद्ध, निर्लेप, निरञ्जन, सर्वधर्मविवर्जित एकमात्र मैं ही हूँ । किसी अन्यकी सत्ता नहीं है । अनिर्वचनीय, अनादि, अविद्यासंयुक्त होकर मैं ही महेश्वर, जगत्कर्ता हूँ । जब प्राणीका लिङ्गशरीर—पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चप्राण तथा अन्तःकरणचतुष्टय-सम्पन्न हो जाता है, तब उसमें मुझ चेतनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही जीव है । चेतनमें अन्तः-करणका अध्यास और अन्तःकरणमें चेतनका अध्यास होनेसे परमात्मा ही सुख-दुःखका भागी होता है । सुख-दुःखानुभव तथा कर्तापन-भोक्तापनके कारण जीव-

संज्ञा होती है। हृदयमें विशेषरूपसे स्थिति है, किंतु सामान्यतया वह समस्त शरीरमें स्थित रहता है। जीवका स्वरूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, किंतु वास्तवमें अनन्त है।' भगवान् शंकरने संक्षेपमें उत्तर दिया।

'भगवन्! देह-त्यागके अनन्तर जीव कहाँ जाता है? जाकर कहाँ ठहरता है? पुनः कैसे आता है? अथवा नहीं आता?' श्रीरामने अतीव गम्भीर प्रश्न किये।

राम! यह सभी विषय अतीव दुर्ज्ञेय हैं। फिर भी तुम्हारी भक्तिसे प्रसन्न होकर मैं उनपर प्रकाश डालूँगा। जैसे जबतक घटकी स्थिति है, तबतक घटाकाशकी भी है। आकाश गमनागमनरहित होनेपर, घटके गमनागमनसे घटाकाश भी गमना-गमन करता है और घटके नष्ट होनेपर घटाकाश महाकाशमें मिल जाता है। वैसे ही जबतक लिंगशरीरकी स्थिति है, तबतक जीवकी भी है। ज्ञान-कर्मानुसार लिङ्गशरीर गमनागमन करता है, उसके अधीन जीव भी गमनागमन करता है, अन्यथा वह निश्चल है। आत्मज्ञानसे लिंगशरीर नष्ट होता है, तब जीव अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें लीन हो जाता है, यही मोक्ष है। फिर कहीं भी जाना-आना सम्भव नहीं। किंतु जबतक अज्ञान, कामना, कर्म तथा विषय-भोग-वासना शेष हैं, तबतक मुक्ति नहीं होती। मृत्यु-कालमें समस्त विषयोंकी वासना हृदय-प्रदेशमें एकत्र होती है। ज्ञान-कर्मेन्द्रिय आदि भी वहीं आ जाता है। कर्मानुसार उदानवायुके रथमें सवार होकर जीव नेत्र, मूर्धा आदि नाडी-मार्गसे जाता है, पापकर्मा पापजन्य दुःखोंको भोगनेके लिये नरकमें जाते हैं। वहाँ यातना-देहसे फल भोगते हैं। इष्टापूर्त पुण्यकर्म करनेवाले पितृलोकमें जाते हैं। वहाँसे चन्द्रलोकमें ऐश्वर्य-भोग करते हैं। भोग समाप्त होनेपर वहाँसे पुनरागमन होता है। उपासक ब्रह्मलोक जाते हैं। वहाँ चिरकालतक भोग भोगनेके पश्चात् हिरण्यगर्भके साथ मुक्त हो जाते हैं। नारकीय जीव फल भोगनेके पश्चात् मशक-दंशादि रूपसे उत्पन्न होते हैं।' भगवान् शंकरने संक्षिप्त उत्तर दिया।

'देवेश्वर! कैवल्यमुक्तिका क्या स्वरूप है? और वह कैसे प्राप्त होती है?' प्रश्न था श्रीरामका।

'शम, दमादि-साधनसम्पन्न पुरुष जब मुझ परमेश्वरको आत्मरूपसे देखता है, तब स्वप्रकाश, अद्वैत, शुद्ध ब्रह्मको प्राप्त होता है। मैं ब्रह्मस्वरूप, सत्य, ज्ञानानन्द हूँ—इस प्रकारका दर्शन ही ज्ञान है। स्वस्वरूपावस्थान ही मुक्ति है। यह ज्ञानकालमें ही प्राप्त होती है। यही कैवल्य-मुक्ति है। इसे पाकर फिर कहीं जाना-आना नहीं पड़ता। यही जीवका वास्तविक स्वरूप है।' त्रिनेत्र भगवान् शंकरने उत्तर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने भगवान् रामकी लंका-विजय तथा सर्वार्थसिद्धिका वरदान दिया। रामकी शिवोपासना सफल हुई। (सूतसंहिता, शंकरगीतादिके आधारपर)

(समाप्त)

[**'सेवक स्वामि सखा सिय पीके'** तथा **'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः'**—आदिके अनुसार भगवान् शिव, विष्णु, राम तत्त्वतः एक हैं या परस्पर परमप्रेमी एक दूसरेके उपासक हैं। सीता-पार्वती-रुक्मिणी आदिमें भी यही बात है। परस्पर उपासनादिकी ऐसी लीलाएँ इनमें होती रहती हैं। इसमें लोकसंग्रह और लोकशिक्षा उद्देश्य है।]

गीताका कर्मयोग—६

(श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या)

(लेखक—श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

(गताङ्क ७, पृष्ठ संख्या २७१से आगे)

आजकल साधन करनेवाले पुरुष भी कर्तव्य-कर्मोंकी अवहेलना करते हुए ऐसा कह देते हैं कि हम भजनमें लगे हुए हैं, हमें क्यों तंग करते हो ? यहाँ वास्तवमें बुराई ही भलाईके वेशमें आयी है; क्योंकि भजनके नामपर वे कर्तव्य-कर्मोंसे हटना चाहते हैं । कर्तव्य-कर्मका त्याग कभी भी उचित नहीं है । अतः साधकको चाहिये कि वह कर्तव्य-कर्मोंको सदैव करता रहे ।

शङ्का—यहाँ बुद्धिका अर्थ 'समता' माननेका क्या अभिप्राय है ? यदि बुद्धिका अर्थ 'ज्ञान' मान लें तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोकमें भगवान्‌ने **'बुद्धिः'** पदका सबसे पहली बार प्रयोग किया है । देहली-दीपक-न्यायके* अनुसार वहाँ **'बुद्धिः'** पद सांख्ययोग और कर्मयोग दोनोंमें ही 'समता'का दिग्दर्शन कराता है । जैसे, भगवान् वहाँ कहते हैं—**'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः'** मैंने इस समताको सांख्ययोगके विषयमें पहले (गीता २ । १५में) कह दिया है—**'समदुःखसुखं धीरम्'**, अब इसी समताको तुम कर्मयोग-के विषयमें सुनो—**'बुद्धियोगे त्विमां शृणु'** । इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी मार्गसे चला जाय, गीताके अनुसार उसमें 'समता' ही सार वस्तु है ।

गीताका प्राण है—समता । परमात्मप्राप्तिके मार्गमें समताकी अत्यन्त आवश्यकता है । यह समता स्वार्थ-त्यागपूर्वक दूसरोंका हित करनेसे (सब कर्मोंको करते हुए भी) सुगमतापूर्वक प्राप्त हो सकती है ।

बुद्धिकी पवित्रता एवं भोगोंसे वैराग्य होनेके कारण सांख्ययोगीके लिये एक परमतत्त्वके सिवा दूसरी सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाना ही समता है । भक्तियोगीके लिये सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि रहनेके कारण सबको भगवत्स्वरूप मानकर उनकी सेवा करना तथा सर्वत्र भगवान्‌को देखना ही समता है । कर्मयोगीके लिये अन्तःकरणमें रागद्वेषरूप हलचलका न होना ही समता है ।

यद्यपि कुछ टीकाकारोंने यहाँ बुद्धिका अर्थ 'ज्ञान' भी माना है, तथापि गीताके इस प्रसङ्गपर पूर्वापर विचार करनेसे बुद्धिका अर्थ 'समता' मानना ही उचित जान पड़ता है । स्वयं भगवान्‌ने भी (गीता २ । ३९में) **'बुद्धियोगे'** पदसे समताका ही संकेत किया है । यही कारण है कि कर्मयोगके इस प्रकरणमें (दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोकसे अध्याय-समाप्तिपर्यन्त) भगवान्‌ने 'बुद्धि' एवं उसके पर्यायवाची शब्द—धी, प्रज्ञाका कुल २४ बार प्रयोग किया है ।

तत् केशव—तो फिर हे केशव !

माम् घोरे कर्मणि किम् नियोजयसि—मुझे युद्ध-जैसे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ?

अर्जुनके इन वचनों (प्रश्न) का अभिप्राय यह है कि यदि आपकी मान्यतामें बुद्धि अर्थात् समता श्रेष्ठ है तो फिर मुझे समताकी प्राप्तिमें ही लगाना चाहिये ! मुझे यज्ञ, दान, तप आदि शुभकर्मोंमें भी नहीं लगाना चाहिये; क्योंकि आप कहते हैं कि बुद्धियुक्त पुरुष पाप और पुण्य दोनोंको यहीं त्याग देता है (गीता २ । ५०); इसके विपरीत आप मुझे युद्ध-जैसे हिंसात्मक घोर कर्मको करनेकी आज्ञा किस अभिप्रायसे देते हैं ?

* देहली (चौखट) पर रखा दीपक घरके भीतर-बाहर दोनों ओर प्रकाश फैलाता है ।

यहाँ अर्जुनका ऐसा भाव प्रतीत होता है कि मानो वे युद्ध-जैसे घोर कर्मसे समताकी प्राप्ति होना नहीं मानते। परंतु आगे चलकर भगवान्‌के उत्तरसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्तव्य-कर्मका पालन करनेसे समताकी प्राप्ति हो जाती है, उसके घोर या सौम्य होनेसे कोई मतलब नहीं है। अतएव साधकको चाहिये कि वर्ण, आश्रम, देश, काल एवं परिस्थितिके अनुसार जो भी कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय, उसका वे तत्परता-पूर्वक पालन करें। अर्जुन क्षत्रिय थे, अतः युद्ध करना उनके लिये स्वधर्म था (गीता २। ३१—३३; १८। ४३)।

व्यामिश्रेण इव वाक्येन मे बुद्धिम् मोहयसि इव—आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि मानो अभीतक अर्जुनकी (युद्ध करने या न करनेकी) निश्चित धारणा नहीं बनी है। इसीलिये उन्होंने यहाँ 'इव' पदका दो बार प्रयोग किया है।

पहली बार **'व्यामिश्रेण'** पदके साथ **'इव'** पदका प्रयोग करके अर्जुन यह कहते हैं कि आपके वचन तो स्पष्ट ही हैं, मिले हुए नहीं हैं, परंतु अपनी अल्पज्ञता (नासमझी)के कारण मुझे वे मिले हुए-से प्रतीत हो रहे हैं। दूसरी बार **'मोहयसि'** पदके साथ **'इव'** पदका प्रयोग करके अर्जुन यह कहते हैं कि आप मुझे भ्रममें डालना नहीं चाहते, प्रत्युत मेरा मोह दूर करना चाहते हैं; परंतु आपके वचनोंका अभिप्राय ठीक-ठीक न समझ सकनेके कारण मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो आप मिले हुए-से वचन कहकर मुझे भ्रममें डाल रहे हैं।

तत् एकम् निश्चित्य वद येन अहम् श्रेयः आप्नुयाम्—इसलिये उस एक बातको निश्चय करके कहिये कि जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होऊँ।

अर्जुनकी एकमात्र इच्छा अपना कल्याण करनेकी है। पहले अध्यायके ३१वें श्लोकमें वे कहते हैं कि युद्धमें अपने कुलको मारकर मैं अपना कल्याण भी नहीं देखता तथा ३२वें श्लोकमें वे कहते हैं कि मैं विजय, राज्य तथा सुखोंको भी नहीं चाहता (केवल अपना कल्याण चाहता हूँ)। दूसरे अध्यायके ७वें श्लोकमें भी अर्जुन अपने कल्याणकी उत्कट अभिलाषा प्रकट करते हुए कहते हैं—'आपके द्वारा जो एक निश्चित किया हुआ कल्याणका साधन हो, वह मेरे लिये कहिये'। आगे अर्जुन कहते हैं—'मैं भूमिमें निष्कण्टक राज्यको तथा देवताओंके आधिपत्यको प्राप्त होकर भी अपनी शोक-निवृत्तिका उपाय नहीं देखता हूँ' (गीता २। ८)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुनका उद्देश्य नाशवान् सुखोंकी प्राप्ति न होकर केवल अपना कल्याण ही है। अतः वे अपनी शोक-निवृत्तिका उपाय कल्याण-को ही मानते हैं। पाँचवें अध्यायके पहले श्लोकमें भी वे सांख्य और कर्मयोग दोनोंमें भगवान्‌से पुनः एक निश्चित किया हुआ कल्याणकारक साधन कहनेके लिये प्रार्थना करते हैं। वही बात अर्जुन यहाँ तीसरे अध्यायके प्रारम्भमें भी भगवान्‌से पूछ रहे हैं।

शङ्का—अर्जुनने यहाँ दो श्लोकोंमें जो प्रश्न किया है, उसे दूसरे अध्यायके ४९वें श्लोकके ठीक बाद पूछ लेना चाहिये था; क्योंकि यह प्रश्न उसी श्लोकपर आधारित है। फिर अर्जुनने इसमें इतना व्यवधान क्यों पड़ने दिया?

समाधान—दूसरे अध्यायके ५०वें और ५१वें श्लोक-में भगवान्‌ने अर्जुन तथा जनसाधारणके लिये कर्म-योगका फल बतलाकर कर्मयोगके प्रकरणका उपसंहार करते हुए ५२वें और ५३वें श्लोकमें अर्जुनके लिये 'मध्यम पुरुष' का प्रयोग करके उसे स्थितप्रज्ञ होनेके लिये कहा। अपने लिये स्थितप्रज्ञ होनेकी बात विशेषरूपसे सुनकर अर्जुन ५४वें श्लोकमें स्थितप्रज्ञ पुरुषके विषयमें चार प्रश्न कर देते हैं। इन प्रश्नोंके उत्तरमें ही दूसरा अध्याय

समाप्त हो जाता है। अतः उन प्रश्नोंका उत्तर समाप्त होते ही अर्जुनके मनमें सिद्धान्तको लेकर जो शङ्का थी, उसे वे यहाँ प्रारम्भमें ही पूछ लेते हैं। इससे यह तात्पर्य भी निकलता है कि साधकको अपने कल्याणकी बातको प्रधान रखते हुए ही गौणरूपसे सिद्धान्तकी बात पूछनी चाहिये।

मार्मिक बात

अपने कल्याणकी तीव्र इच्छा होनेके कारण भगवान्‌ने युद्ध-जैसे विकट समय और स्थानमें भी अर्जुनको उपदेश देकर उनका मोह नष्ट किया (गीता १८। ७३)। जो उपदेश एकान्त स्थानमें मन-बुद्धिके स्थिर होनेपर दिया जाता है, उसे भगवान्‌ने युद्ध-जैसे अवसरपर दिया—इससे एक मार्मिक बात प्रकट होती है कि यदि साधकमें अपने कल्याणकी तीव्र इच्छा हो तो उसके कल्याण होनेमें देर नहीं लगती। कल्याणप्राप्तिके साधन उसे सुगमतापूर्वक प्राप्त हो जाते हैं और उसका कल्याण शीघ्र हो जाता है। अतएव प्रत्येक साधकको अपने भीतर कल्याणप्राप्तिकी तीव्र इच्छा जाग्रत् करनी चाहिये। भोग भोगना तथा भोगोंके लिये संग्रह करना—इस इच्छाके जाग्रत् होनेमें विशेषरूपसे बाधक हैं। साधकको इनसे बचना चाहिये।

सम्बन्ध—

अगले तीन श्लोकों (तीसरे, चौथे और पाँचवें) में श्रीभगवान् अर्जुनके 'व्यामिश्रेणेव वाक्येन' (मिले हुए-से वचनों) पदोंका उत्तर देते हैं।

श्लोक—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं—'पापरहित अर्जुन! परमात्मतत्त्वको चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने निष्ठा (समता-) की प्राप्तिके दो साधन बतलाये हैं। उनमेंसे ज्ञानियोंकी निष्ठा तो 'ज्ञानयोग'से और योगियोंकी निष्ठा 'कर्मयोग' से होती है।'

मनुष्य प्रायः दो प्रकारके होते हैं—१—बुद्धि या विचारप्रधान और २—कर्मप्रधान। मनुष्य-शरीरकी प्राप्तिका एकमात्र अभिप्राय अपना कल्याण करना है। अतः दोनों ही प्रकारके मनुष्य अपना कल्याण चाहते हैं। यहाँ भगवान् कहते हैं कि जिनका स्वभाव विचारप्रधान है (अर्थात् जिनमें बुद्धिकी प्रधानता है), उन 'ज्ञानियों' के लिये ज्ञानयोगसे प्राप्त होनेवाली निष्ठाका एवं जिनका स्वभाव कर्मप्रधान है (अर्थात् जिनकी कर्मोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति है), उन 'योगियों'के लिये कर्मयोगसे प्राप्त होनेवाली निष्ठाका वर्णन मैंने किया है। तात्पर्य यह है कि साधन दो प्रकारके हैं, पर उन दोनोंका फल (निष्ठा या समताकी प्राप्ति) एक ही है। अतः मैंने मिले हुए-से वचन नहीं कहे हैं।

अन्वय—

अनघ, अस्मिन्, लोके, द्विविधा, निष्ठा, मया, पुरा, प्रोक्ता, सांख्यानाम्, ज्ञानयोगेन, योगिनाम्, कर्मयोगेन॥ ३॥

पद-व्याख्या—

अनघ—हे निष्पाप!

अर्जुनके द्वारा (गीता २। ७ तथा ३। २में) अपने श्रेय (कल्याण)की बात पूछा जाना ही उनकी 'निष्पापता' (अनघता) है, क्योंकि अपने कल्याणकी तीव्र इच्छा होनेपर साधकके पाप नष्ट हो जाते हैं।

अस्मिन् लोके—इस मनुष्यशरीरमें।

ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों प्रकारके साधनोंको करनेका अधिकार (अथवा साधक बननेका अधिकार) मनुष्यशरीरमें ही है।

द्विविधा निष्ठा—दो प्रकारसे होनेवाली निष्ठा।

निष्ठा अर्थात् समता एक ही है, जिसे दो प्रकारसे प्राप्त किया जा सकता है, अर्थात् यह निष्ठा (समता) ज्ञानयोगसे भी प्राप्त होती है एवं कर्मयोगसे भी । इन दोनों योगोंका अलग-अलग विभाग करनेके लिये भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ३९ वें श्लोकमें कहा है कि हे अर्जुन ! इस समताको मैंने सांख्ययोगके विषयमें (दूसरे अध्यायके ११ वें श्लोकसे ३० वें श्लोकतक) कह दिया है, अब उसे कर्मयोगके विषयमें (दूसरे अध्यायके ३९ वें श्लोकसे ५३ वें श्लोकतक) सुनो । इस प्रकार यद्यपि दोनों निष्ठाएँ पिछले अध्यायमें कही जा चुकी हैं, किन्तु किसी भी निष्ठामें कर्मत्यागकी बात नहीं कही गयी है । वास्तवमें कर्मोंको स्वरूपसे न त्यागकर उनमें (सांख्ययोगके अनुसार) कर्तृत्वाभिमान या अहंताका एवं (कर्मयोगके अनुसार) ममता-आसक्तिका त्याग करना है । ममता और अहंता—दोनोंमेंसे किसी एकका भी भलीभाँति त्याग करनेपर दोनों छूट जाती हैं ।

मया पुरा प्रोक्ता—मेरे द्वारा पहले कही गयी है।

'पुरा' पदका अर्थ 'अनादिकाल' भी होता है और अभीसे कुछ पहले भी होता है । यहाँ इस पदके दोनों ही अर्थ लिये गये हैं । पहले अर्थ (अनादिकाल) के अनुसार चौथे अध्यायके प्रारम्भमें भगवान् कहते हैं कि मैंने इस अविनाशी योगको कल्पके आदिमें सूर्यके प्रति कहा था अर्थात् कर्मयोग अनादिकालसे ही चला आ रहा है । दूसरे अर्थ (अभीसे पहले)-के अनुसार भगवान्‌ने दूसरे अध्यायमें (११ वें श्लोकसे ३० वें श्लोकतक सांख्ययोगका एवं ३९ वें श्लोकसे ५३ वें श्लोकतक कर्मयोगका) वर्णन किया है ।

सांख्यानाम् ज्ञानयोगेन—ज्ञानियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे होती है । प्रकृतिसे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता ३ । २८) एवं मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा समझकर समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका सर्वथा त्याग कर देना 'ज्ञानयोग' है ।

गीतोपदेशके प्रारम्भमें ही भगवान्‌ने सांख्य या ज्ञानयोगका वर्णन करते हुए नाशवान् शरीर और अविनाशी शरीरी (आत्मा) का विवेचन किया है, जिसे सत् और असत्‌के नामसे (गीता २ । १६ में) भी कहा गया है ।

योगिनाम् कर्मयोगेन—योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है। वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय, उसे (उस कर्म तथा उसके फलमें) ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके करना तथा कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें सम रहना 'कर्मयोग' है । (क्रमशः)

सफल आराधना

(रचयिता—श्रीआदर्श, 'प्रहरी' एम्० ए०)

शब्द-शब्द सत्यकी सुगन्धसे सुवासित हो,
सॉंस-सॉंस सर-से सदैव सद्भावना ।
भावना भली-सी भाव-भीनी हो भलाई लिये,
भव-भय-भ्रमको भुला दे भव्य भावना ॥
कल्पना करें कि कर्मयोगी कृष्ण हों कृपालु,
कर्ममें कुशलताकी होवे अवधारणा ।
धारणा हो धर्मकी धरा पै सुप्रतिष्ठ करें,
ध्यान हो धवल तो सफल आराधना ॥

सनातनधर्ममें नारीका कर्तव्य

(लेखक—पं० श्रीनारायणदासजी पहाड़ा 'बावलानन्द')

ब्रह्मवैवर्तपुराणके श्रीकृष्णगोपीखण्डमें माता यशोदा एवं कृष्णका आर्यनारीके सद्वृत्तपर सुन्दर वार्तालाप-प्रसङ्ग प्राप्त होता है। उसका मुख्यांश पाठक-पाठिकाओंके लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

माता यशोदा—'हे पुत्र मनमोहन! यह शरीर नश्वर तथा रोगका घरौंदा है। कोई ऐसा मार्ग दर्शाओ जिससे इसमें निवास करनेवाले जीवात्माको जन्म, जरा, व्याधि आदि कष्टोंसे छुटकारा मिले, काया कञ्चन बने तथा आत्माको मोक्षकी प्राप्ति हो।'

भगवान् श्रीकृष्ण—'माता! स्त्रियोंको सदैव एक ही सनातन आज्ञाका प्राणपणसे पालन करना चाहिये—वह है सतीत्वकी रक्षा एवं तन-मनसे भीतर-बाहर सतीधर्मका पालन। यही एक सुगम एवं सर्वसुलभ मार्ग है जो परमशान्ति और मोक्षका अधिकारी बनाकर उन्हें आन्तरिक सुख-शान्ति प्रदान करता है। कहा है—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयुता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥

(मनु० ९। २९)

'जो स्त्री मन, वचन और शरीरसे संयत होकर पति-सेवा करती है, वह पतिके साथ स्वर्गादि दिव्य लोकोंको प्राप्त करती है और संसारमें सती-साध्वी आदि शब्दोंसे सम्मानित होती है। स्त्रियोंके लिये पति ही ईश्वर है। पति-सेवा ईश्वर-भक्ति है।'

यशोदाजी—'मोहन! मुझे पति-भक्ति तथा पतिव्रताके कर्तव्य समझाकर संसारार्णवको सुलभ तथा सरलतासे पार करनेकी राह दिखलाओ, जिससे मेरा परम कल्याण हो सके।'

केशव—'माताजी! आपकी कृपा एवं दयासे आपके समक्ष उस दिव्य ज्ञानका वर्णन करता हूँ। ध्यान देकर सुनें और उसे तन्मयतासे जीवनमें उतारें। ब्रह्माने स्त्री-जातिका निर्माण कर उसे तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया है। पहली उत्तमा, दूसरी मध्यमा, तीसरी अधमा। धर्मसम्पन्न उत्तमा स्त्री पतिकी भक्त होकर रहती है। वह प्राणोंपर आ पड़नेपर भी अपकीर्ति पैदा करनेवाले अन्य पुरुषको स्वीकार नहीं करती। ब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें श्रुतियोंका उपबृंहण करते हुए कहा गया है—

गृहिणीनां सदाचारं श्रूयतां तच्छ्रुतौ श्रुतम्।
गृहिणी पतिभक्ता च देवब्राह्मणपूजिका॥
सा शुद्धा प्रातरुत्थाय नमस्कृत्य पतिं सुरम्।
प्राङ्गणे मङ्गलं दद्याद् गोमयेन जलेन च॥
गृहकृत्यं च कृत्वा च स्नात्वा गव्यगृहं सती।
सुरं विप्रं पतिं नत्वा पूजयेद् गृहदेवताम्॥
गृहकृत्यं सुनिवृत्त्य भोजयित्वा पतिं सती।
अतिथिं पूजयित्वा च स्वयं भुङ्क्ते सुखं सती॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखण्ड)

माता! 'गृहस्थ पत्नियोंका जो सदाचार श्रुतियोंमें कहा है, वह सुनिये। जो नारी पतिपरायणा तथा देव-ब्राह्मणकी पूजा करनेवाली होती है, उस शुद्धाचारिणीको चाहिये कि प्रातःकाल उठकर देवता और पतिको नमस्कार करके आँगनमें गोबर और जलसे लीपकर मङ्गल-कार्य सम्पन्न करे, फिर गृहकार्य करके स्नान करे और घरमें आकर देवता, ब्राह्मण और पतिको नमस्कार करके गृहदेवताकी पूजा करे। इस प्रकार सती नारी आवश्यक गृह-कार्योंसे निवृत्त होकर पतिको भोजन कराती है और अतिथि-सेवा करनेके पश्चात् स्वयं सुखपूर्वक भोजन करती है।'

यशोदा माता—हे अरिसूदन, मुरारे! सतीकी महिमा एवं लक्षणोंका भी कुछ गुणगान करो, जिससे जीवको परमपद प्राप्त हो तथा उस महिमाके तेजसे उसका तन कञ्चनकी भाँति निखर उठे।

भगवान् गोविन्द—माता ! पृथ्वीपर जितने तीर्थ हैं, वे सब सती स्त्रीके पावन पवित्र चरणकमलोंमें निवास करते हैं । सम्पूर्ण देवताओं और मुनियोंका तेज सतियोंमें विद्यमान रहता है । तपस्या, दान, व्रतका सारा फल सदा उन सतियोंके अधीन रहता है । स्वयं भगवान् विष्णु, शिव, लोकोंके विधाता ब्रह्मा तथा सारे देवता और ऋषि-मुनि भी सदा सतियों (पतिव्रताओं)से डरते रहते हैं । सतियोंकी चरणधूलिके स्पर्शसे पृथ्वी तत्काल पावन (पवित्र) हो जाती है। सतीको नमन करनेसे मानव सब पापोंसे तत्काल छूट जाता है । पतिव्रता अपने तेजसे क्षणभरमें ही त्रिलोकीको भस्मसात् कर डालनेमें समर्थ है; क्योंकि वह सदा महान् पुण्यसे सम्पन्न रहती है । सतियोंके पति और पुत्र साधु एवं निःशंक हो जाते हैं । उन्हें देवताओं तथा यमराजसे भी भय नहीं रहता । सौ जन्मोंतक पुण्य-संग्रह करनेवाला एवं सच्चरित्र, भगवद्भक्त पुण्यवानोंके घरमें पतिव्रता जन्म लेती है । पतिव्रताके उत्पन्न होनेसे उसकी माता पुनीत तथा उसके पिता जीवन्मुक्त हो जाते हैं । सतीकी लीला महान्‌से भी महान् है । जैसे परमात्माकी लीलाका अन्त नहीं, ठीक वैसे ही सतीके सतीत्वका भी अन्त नहीं ।

इतना कहकर भगवान् श्रीकृष्ण मन-ही-मन सतियोंको प्रणामकर प्रेमके सागरमें खो गये, आँखें अर्धोन्मीलित-सी हो गयीं तथा मुखपर एक अनन्य आभा देदीप्यमान हो गयी, जिससे सब ओर उज्ज्वल-प्रकाश-पुञ्ज छा गया !

माता यशोदा—(हर्षोल्लाससे) गोविन्द ! सतीकी ऐसी महिमा सुनकर ये तन-मन परम पवित्र हो गये। पुत्र ! अब सतियोंके उन कर्तव्योंको भी बतलाओ, जिनका पालन करके नारी-जीवन सफल हो जाय और वे मोक्ष-प्राप्ति कर सकें ।

भगवान् केशव—अम्बा ! सती प्रातःकाल उठकर रात्रिमें पहने हुए वस्त्रोंको छोड़कर पतिको नमस्कार करके प्रसन्नतापूर्वक पतिका ध्यान करती हुई भगवान्‌के स्तवन-पाठ आदि गान करती हुई सफ़ाई, गृहकार्य इत्यादि करके शौच-स्नानादिके बाद धुली हुई स्वच्छ-से-स्वच्छ साड़ी और कञ्चुकी धारण करती है । फिर पतिको स्नान करवाकर पुष्प आदिसे भक्तिपूर्वक पतिके चरणोंका पूजन करती है । इस प्रकार पतिपरमेश्वरका पूजन, वन्दन तथा सेवा-कार्य करके घरके अन्य कर्मोंको सम्पन्न करती है । ऐसा करनेसे सती नारी कुल-परिवारसहित अपने सात कुलोंको तारकर परमपद—भगवान् विष्णुके धामको प्राप्त करती है । माताजी ! पतिव्रताके ये धर्मानुष्ठान भी कितने महान् और महिमामय हैं, जो लोकको उच्च आदर्श सिखलाते हैं ।

यशोदा—(प्रसन्नतासे) हाँ, वत्स ! आज सतीकी ऐसी महिमा सुनकर मेरा जीवन धन्य हो उठा तथा सती नारीकी ऐसी महिमाको जानकर मनको शान्ति प्राप्त हुई ।

माता यशोदा यह सब सुनकर तथा मन-ही-मन पतिव्रताओंके पावन चरणोंमें प्रणाम कर धन्य हो गयीं । उस समय उन्हें ऐसा लगा मानो पातिव्रतधर्म-महिमाकी एक ही ध्वनि चारों तरफ़ गूँजने लगी हो—'पतिव्रता ! तुम धन्य हो ! सती ! तुम धन्य हो ।' सनातन पातिव्रत धर्मकी यह महिमा विश्व-ब्रह्माण्डमें अनन्तकालतक गूँजती रही तथा आगे भी पातिव्रतधर्मका शुचि-सौरभ अनन्तकालतक दिग्दिगन्तको सुवासित करता रहेगा ।

तव चरन-शरन !

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

कोई पचास साल हुए, जब मैंने पहले-पहल **'माँगूँ माँगूँ हरी तव चरन-शरन ।'** भजन सुना था । हमारी बहन जब कभी गाँव आतीं तो अपना ग्रामोफ़ोन अवश्य लातीं । उसकी आवाज कानमें पड़ी नहीं कि हम सब बच्चे दौड़े उनके घरकी तरफ । हम देखते 'हिज मास्टर्स वायस'के डिब्बेके ऊपर बनी कुत्तेकी सुन्दर तस्वीर । लगता यही कुत्ता भीतर बैठा गा रहा है, मीठा-मीठा, मधुर-मधुर ! रिकार्ड बदलते चलते । गीत और भजन बदलते चलते हम सब मन्त्रमुग्ध-से सुनते रहते घंटों !

> **माँगूँ माँगूँ हरी तव चरन-शरन ।**
> **तव चरन शरन, तव चरन शरन ॥**
> **सकल द्वारको छोड़ कर प्रभु आये तुम्हारे द्वार ।**
> **शरन गहेकी लाजको प्रभु तुम ही राखन हार ॥ माँगूँ० ॥**
> **हम सब दीन मलीन हैं, तुम प्रभु दीन दयाल ।**
> **शरन आपनी राखिकर प्रभु करो सदा प्रतिपाल ॥ माँगूँ० ॥**

इस भजनकी लय इतनी प्यारी और सुरीली थी कि आज भी **'तव चरन शरन ! तव चरन शरन !!'** दोहराते-दोहराते कभी भावविभोर हो जाता हूँ ।

बहन तो भगवान्‌को प्यारी हो गयीं, पर उनका स्नेह अमर है, उसे कैसे भुलाया जा सकता है ? उन्होंने मुझे गोदीमें खेलाया था । गाँधीकी आँधीमें बहनेके पहले, मैं जब किसीका छुआ नहीं खाता था तो बहनने ही मुझे रोटी सेंकना सिखाया था ।

× × × ×

स्मृतियोंके, संस्मरणोंके झरोखेसे उतरकर मैं डूब जाता हूँ—सपनोंकी दुनियामें । फ्रायड साहब उनका कैसा क्या विश्लेषण करते, इसका मुझे पता नहीं । मुझे तो लगता है कि ऐसे सपने रोज देखनेको मिलें तो धन्य हो उठे मेरा जीवन ! अतीतकी याद बड़ी मुग्धकारिणी होती है ।

बात कई साल पुरानी है । आँगनके बरामदेमें चारपाईपर पड़ा हूँ । इतनेमें आ जाते हैं सूर बाबा । सिरपर टोपा, हाथमें एकतारा । ब्राह्म मुहूर्तकी वेला । वे बाहर चबूतरेपर बैठकर छेड़ देते हैं अपनी मनहर तान—

> **'चरन कमल बंदौं हरि राई ।**
> **जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे,**
> **अँधरे कहँ सब कछु दरसाई ।**

बार-बार द्रुतविलम्बितमें ये ही कड़ियाँ । स्थायी-अन्तरामें यही टेक । आनन्द-विभोर हो आँखें खोलता हूँ तो न बाबा सूरदास, न उनका एकतारा । पर उनकी तान आज भी मेरे कानोंके पर्देसे टकरा रही है—**'चरन कमल बंदौं हरि राई'**' **'चरन कमल'**' **'चरन कमल !'**''

× × × ×

सोचने लगता हूँ, विभीषणकी बात ।

रावणकी ठोकर खाकर दौड़ता है—उन चरणोंकी ओर जो शरणागतोंकी शरण हैं । हृदय गद्‌गद है । कल्पना साकार होने जा रही है—

'देखिहउँ जाइ चरन जलजाता । अरुन मृदुल सेवक सुखदाता ॥

अहह ! धन्य हैं वे पावन चरण । अरुण भी, मृदुल भी, सेवक-सुखदाता भी । कमल ! पवित्रताका प्रतीक कमल । उसकी अरुणिमा, लालिमा, उसकी कोमलता, मृदुलता, उसकी स्निग्धता, मनोहरता, कमनीयता ! कहीं कोई तुलना है उसकी ? **'सब उपमा कबि रहे जुठारी ।'**

एक-एक पँखुड़ी लाजवाब । तभी तो प्रभुके अङ्ग अङ्गकी तुलना कमलसे की जाती है । **नवकंज लोचन कंज मुख करकंज पद कंजारुणम्**............... ।

पाण्डिचेरीमें एक दिन अरविन्दकी समाधिपर कमलोंका श्रृङ्गार देखा ! चित्त गद्‌गद हो उठा । कैसा अद्भुत, वह दृश्य कितना भव्य था, कमल ही कमल । चारों ओर कमल ही कमल ।

तो वे चरन—अरुन मृदुल कोमल जलजाता ।
जे पद परसि तरी रिषिनारी ।

पत्थर जिनके स्पर्शसे प्राणवान् हो उठता है । दण्डक-कानन-पावनकारी वे चरण । इतना ही नहीं ।

जे पद जनक सुता उरलाये ।
कपट कुरंग संग उर धाये ॥

कपट कुरंग देखे हैं किसीने ! कंचन मृग ? मैंने देखे हैं । सपनेमें ही सही—देखे तो !

जंगल है । एक-दो नहीं, चार कञ्चन-मृग थे, मेरे आगे । कैसे चमकीले ! कैसे सुन्दर ! कैसे लुभावने !

सचमुचके कञ्चन-मृग ! सपना भी कहीं सचमुचका होता है ? पर नहीं । लगता है, वे उस समय भी मेरी आँखोंके आगे चौंकड़ी भरते हुए जंगलमें विलीन हो रहे हैं । तभी विरही राम आ विराजते हैं—मेरे स्मृतिपटलपर । कहते हैं—

हमहिं देखि मृग निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
तुम्ह आनंद करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ए आए॥

और वे चरण—हर उर सर सरोज पद जेई ।

विभीषण मगन है—अहो भाग्य मैं देखिहउँ तेई ॥

पर चरम विन्दु—तो बाकी ही है—

जिन पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ ।
ते पद आज बिलोकिहउँ इन नयनन्हि अब जाइ ॥

'साधन सिद्धि राम पग नेहू'—आदर्शवाले भरत जिन चरणोंकी पादुकाओंकी रोज पूजा करते हैं ।

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति ॥

वे चरण जिनके लिये गोस्वामीजी महाराज ललक रहे हैं—

'कबहिं दिखाइहौ हरि चरन ।
समन सकल कलेस कलिमल,
सकल मंगल करन ॥

धन्य हो उठता है वह, जो उन चरणोंकी ओर बढ़ता है । सभी कुछ तो उपलब्ध है उन चरणोंमें ।

चरण चिह्न करुणानिधानके—जिन्होंने देखे हैं, वे उनकी महिमा बखानते अघाते नहीं । कहते हैं—

उनमें कल्पवृक्ष भी है, कामधेनु भी ।
सुधाकुण्ड भी है, लक्ष्मी भी ।

तान्त्रिक साधक कहते हैं—उनमें त्रिकोण भी है, षट्कोण और अष्टकोण भी । जिसे योगसिद्धि चाहिये, वह करे त्रिकोणकी पूजा । जिसे षड्विकार जीतने हों, वह करे षट्कोणकी उपासना । जिसे अष्टसिद्धिकी आकाङ्क्षा हो, वह करे अष्टकोणकी साधना । मतलब, हरिचरणोंका आश्रय लेनेसे सब कुछ मिल सकता है ।

लोक लाहु भी है, उसमें परलोक निबाहू भी । सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं । सारे विघ्न दूर हो जाते हैं । सारी बाधाएँ समाप्त हो जाती हैं । जिधर दृष्टि जाती है—उधर ही प्रभुके दर्शन ।

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध ॥

बस जरूरत है—'रामचरनरत' होनेकी ।

हम उस ओर बढ़ें भी तो, फिर बेड़ा पार होते क्या देर है ?

सच्चे हृदयसे हम पुकारें भी तो—

माँगूँ माँगूँ हरी तव चरन शरन ।
तव चरन शरन तव चरन शरन ॥

देर तो हमारी ओरसे है, उन अशरण-शरणकी क्या देर है ! वे तो तैयार बैठे हैं चरण-शरण देनेको ।

भक्त ललिताचरण

आजसे कई सौ वर्ष पूर्व परम पावन भूमि चित्रकूटके समीप एक छोटे-से गाँवके एक वैश्यपरिवारमें ललिताचरणका जन्म हुआ था—ठीक भादों बदी अष्टमीके दिन। भादोंकी अष्टमी हिंदूमात्रके लिये अत्यन्त पुनीत तिथि है। इसी पुण्य-पर्वपर ललिताचरणने माताकी कोखको धन्य किया।

ललिताचरण अपने माता-पिताका एकमात्र लाड़ला लाल था। इस कारण उनका अमित स्नेह और अपार दुलार उसपर बरसता रहता था। उसका एक क्षणका भी बिछोह उनके लिये असह्य था। पिता दूकानपर रहते और माता घरका काम-काज करतीं। प्रातःकाल स्नानादिसे निवृत्त होकर पिता श्रीहनुमान-चालीसाका पाठ करते और माता तुलसीके बिरवेमें जल देतीं, सूर्यनारायणको अर्घ्य देतीं और फिर श्रीहनुमान्‌जीको पत्र-पुष्प तथा प्रसाद चढ़ातीं। यही उनका नित्य-नियम था। बालक ललिता भी माताके साथ लगा रहता और उनके सभी कृत्योंको एक कुतूहलभरी दृष्टिसे देखता। बचपनमें जो संस्कार पड़ जाते हैं, वे कच्चे घड़ेपर खिंची हुई रेखाके समान कभी मिटते नहीं। ललिताको पाँच-सात वर्षकी उम्रमें ही श्रीहनुमानचालीसा कण्ठस्थ हो गया और वह अपनी माताके साथ बैठकर बड़े प्रेमसे श्रीहनुमान्‌जीको पाठ सुनाता। इस प्रकार करते-करते उसकी श्रीहनुमान्‌जीमें एवं हनुमानचालीसामें भक्ति तथा प्रीति हो गयी और वह उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। नित्यप्रति प्रातःकाल वह स्नान करके स्वच्छ धुले हुए वस्त्र पहनकर पूजा-घरमें चला जाता और प्रेमगद्‌गद वाणीसे पाठ करता। कभी-कभी पाठ करते हुए उसे ऐसा बोध होता था कि साक्षात् श्रीहनुमान्‌जी उसके मस्तकपर हाथ रक्खे हुए हैं और उसे अपनी अमृतमयी स्नेहदृष्टिसे नहला रहे हैं। ऐसे समय स्वभावतः ही ललिताचरणकी आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी अविरल धारा बहने लगती, पाठ बंद हो जाता और एक विचित्र दिव्योन्मादमें घंटों निकल जाते। माता-पिताको अपने बच्चेकी इस भगवत्प्रीतिसे अपार आनन्द मिलता था।

एक समयकी बात है, ललिताचरणके गाँवके निकट ही एक गाँवमें रासलीला हो रही थी। संयोगसे ललिताचरण भी वहाँ पहुँच गये थे। उस दिन गोपियोंकी विरहलीलाका प्रसङ्ग था। जब भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनसे मथुरा जाने लगे तब गोपियाँ श्रीकृष्णके विरहमें नाना प्रकार विलाप करतीं तथा लोक-लाज आदिकी परवा न कर ऊँचे स्वरसे 'हा गोविन्द ! हा दामोदर !! हा माधव !!!' उच्चारण करती हुई रुदन करने लगीं।

उधर गोपियाँ रो रही थीं, इधर ललिताचरण रो रहे थे। आज एकाएक उसने अपनेको गोपीभावमें तल्लीन पाया। घंटों उसकी विचित्र दशा रही। आँसुओंसे उसका वक्षःस्थल भीग गया। आहों और सिसकियोंका ताँता लग गया। हृदयमें सोया हुआ विरह जाग पड़ा। रासलीला चल रही थी। गोपियोंकी दशा देखकर उद्धवजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और बड़े ही करुणस्वरसे राधा तथा व्रजगोपियोंकी व्याकुलताका वर्णन कर रहे हैं।

ललिताचरणको अनुभव हुआ कि यहाँ उद्धवजी श्रीकृष्णसे श्रीराधाकी विरह-दशा निवेदन नहीं कर रहे हैं, अपितु साक्षात् श्रीहनुमान्‌जी ही अपने प्रिय भक्त ललिताकी विरह-व्यथा श्रीकृष्णको सुना रहे हैं। रासलीलामेंसे लौट आनेपर भी कई दिनोंतक ललिताचरण उसी दिव्य प्रेमोन्मादमें लीन रहे। अब उन्हें खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। न किसीसे कुछ कहते, न किसीकी कुछ सुनते।

रात-दिन रोते ही रहते। हाँ, बीच-बीचमें श्रीहनुमान-चालीसाका पाठ अवश्य कर लिया करते; क्योंकि उनके हृदयमें यह दृढ़ विश्वास था कि यह सब कुछ श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे ही प्राप्त हुआ है। एक दिन रातको उन्होंने स्वप्नमें सुना—'अब वृन्दावन जाकर श्रीरङ्गनाथजीके दर्शन करो—वहाँ तुम्हारी इच्छाएँ पूरी हो जायँगी। भगवान्‌ने अपने चरणोंमें तुम्हें स्वीकार कर लिया है।' स्वप्न टूटनेपर ललिता-चरणने श्रीहनुमान्‌जीके संकेतको स्पष्ट समझ लिया और वृन्दावन जानेका निश्चय कर लिया। दूसरे दिन रातको स्वप्नमें श्रीहनुमान्‌जीने पुनः प्रकट होकर द्वादशाक्षरी श्रीवासुदेव-मन्त्र उनके कानमें चुपकेसे सुनाया और एक तुलसीकी माला प्रदान की। प्रातः-काल उठनेपर उन्हें तुलसीकी एक माला रखी हुई मिली। नित्यनियमसे निवृत्त हो ललिता वृन्दावनकी ओर चल पड़े। वृन्दावनमें प्रवेश करते ही ललिताजीकी दशा कुछ और ही हो गयी—वे प्रेमविह्वल हो गये, जैसे युगोंकी बिछुड़ी हुई पत्नी अपने पतिके घर आ गयी हो। वस्तुतः जीवमात्र उस एक परम प्रियतमसे मिलनेके लिये व्याकुल है। मोहाच्छन्न हो वह यहाँ-वहाँ भटकता, रुकता है। परंतु इस संसारकी किसी भी वस्तुसे उसे कभी सान्त्वना नहीं मिलती।

ललिताचरण सीधे श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरमें पहुँचे। शरीर धूलसे भरा था। केशोंमें लटें पड़ गयी थीं। परंतु प्रेमीको शरीरसे क्या नाता? दिन-दिनभर ललिता श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरकी सीढ़ियोंपर बैठे रहते और रातको नगरसे दूर करीलके कुञ्जोंमें चले जाते—जहाँ उन्हें भगवान्‌की दिव्य लीलाओंके दर्शन होते—कभी गोपालकृष्णकी माखन-चोरी देखते तो कभी गोपियोंके साथ नृत्य करते हुए भगवान्‌की रासलीलाका दर्शन प्राप्त करते। कभी चीरहरण-लीलाकी झाँकीका आनन्द उठाते। इस प्रकार एक-एक करके सारी लीलाएँ उनके सामने दृश्यमान होती रहतीं। कभी-कभी वे स्वयं रासमें सम्मिलित होकर भगवान्‌के साथ नाचते, उनके दोनों हाथ भगवान्‌के हाथोंमें रहते—दाहिना हाथ भी श्रीकृष्णके हाथमें और बायाँ हाथ भी उन्हीं लीलाविहारीके हाथमें। वे कहाँ रहते हैं, क्या खाते-पीते हैं—इसे कोई नहीं जानता था। वे स्वयं भी नहीं जानते थे कि यह सब कैसे हो रहा है। एक वृद्ध महात्मा उन्हें रोटी और थोड़ी छाछ पहुँचा जाया करते थे। वे उसे लेकर चुपचाप यमुनाजीके किनारे चले जाते और उसे पाकर फिर दो-चार चुल्लू यमुनाजल पीकर अलमस्तीमें डोला करते थे। न तो वे किसीसे कुछ बोलते और न किसीकी कोई बात सुनते ही थे। बस, हनुमान्‌जीकी दी हुई तुलसीकी माला गलेमें और उनका दिया हुआ वासुदेव-मन्त्र हृदयमें अखण्डरूपसे जाग्रत् था। अब उनकी आँखोंके सामने आनेवाला समस्त रूप, कानोंको सुन पड़नेवाला प्रत्येक शब्द—एकमात्र श्रीकृष्णका ही रूप और श्रीकृष्णका ही नाम हो गया था, सभी रूप उसी अरूप-रूपमें घुल-मिल गये थे, सभी नाम उस दिव्य नाममें लय हो चुके थे। कानोंसे जो कुछ सुनता, उसमें श्रीकृष्णका नाम ही सुनायी पड़ता था।

पंद्रह-सोलह वर्षका समय इस प्रेमोन्मत्ततामें कुछ क्षणोंकी भाँति बीत गया। एक ही भाव, एक ही गति और एक ही रसमें सारा समय व्यतीत होता रहा। ललिता अब ललिता-चरण नहीं रहे। वे अब साक्षात् ललिता सखी बन गये थे, साक्षात् रासविहारी भगवान्‌की कृपानुकम्पा प्राप्त कर।

आज रासका अपूर्व समारोह है। समस्त वृन्दावनके कुञ्जोंमें दिव्य उन्माद नृत्य कर रहा है—ललितत्रिभङ्गी श्यामसुन्दरने वंशी बजायी है। अपनी

प्रमुख अष्ट सखियोंके साथ स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका रासमें पदार्पण होता है। फिर सहस्र-सहस्र गोपियाँ रासमण्डलमें पधारती हैं। वे धन्य हैं, जो भगवान्की इस दिव्य वंशीध्वनिके आवाहनको सुनते हैं और सुनकर लोक तथा कुलकी मर्यादाका भङ्ग करके सदाके लिये अपने प्राणधनके प्रणयपथमें चल पड़ते हैं। फिर तो मिलन होता ही है, अवश्यमेव होता है। आज ललिताने भी हृदय खोलकर हरिके वंशीपथका अनुसरण किया है। दिव्य रासमण्डलीमें भगवान्ने उन्हें भी सम्मिलित कर लिया है, तभी श्रीकृष्णने अष्ट सखियोंमें प्रमुख ललिताजीको संकेत किया। उन्होंने भगवान्के आज्ञानुसार उनके गूढ़ संकेतको समझकर ललिताको अपने हृदयमें छिपा लिया। ललिता ललितामें लीन हो गये—भगवान्की प्रणयिनीका पद पा गये। अहोभाग्य!

उसके बाद वृन्दावनमें श्रीरङ्गनाथजीकी सीढ़ियोंपर वह पागल फिर दिखायी नहीं दिया। दीखता कहाँसे, वह तो अपने 'स्वरूप'में स्थित हो भगवान्की लीलामें प्रवेश कर गया था।

'सत्यं हि परमं बलम्'

ऋत और सत्यकी उत्पत्ति तपस्यासे ही हुई है—*ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत* (ऋक् १० । १८० । १) सत्यकी महत्ता सभी धर्मों और सभी देशोंमें निर्विवादरूपसे स्वीकृत है। सत्य स्वयंमें त्रिकालाबाधित और सदा रहनेवाला है—ऐसा ही सत्यका धात्वर्थ है। इसीलिये कहा गया है कि सत्यके सिवाय अन्य कोई परम धर्म नहीं है—*'नास्ति सत्यात्परो धर्मः'*। (महाभा० शा० १६२ । २४)

महाभारतके आदि पर्व (७४ । १०२) में आया है कि 'हजार अश्वमेध और सत्यकी तुलना की जाय तो सत्य ही बढ़ जायगा—

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलयाधृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

मनु महाराज इस सत्यके व्यवहारके लिये एक विशिष्ट बात यह कहते हैं कि मनुष्योंके सब व्यवहार वाणीसे हुआ करते हैं। एकके विचार दूसरेको बतानेके लिये शब्दके समान अन्य साधन नहीं है। वही सब व्यवहारोंका आश्रय-स्थान और वाणीका मूल होता है। जो मनुष्य उसकी प्रतारणा करता है, वह सब पूँजीकी ही तस्करी करता है (४ । २५६)।

वाच्यार्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥

इसलिये निष्कर्षरूपसे कहते हैं कि 'जो सत्यसे पवित्र हो, उसी वाणीको बोले'— *सत्यपूतां वदेद् वाचम्*। (६ । ४६)। प्रथम धर्म सत्यके व्यवहारकी ये कुछ कड़ियाँ हैं, जिसके लिये तैत्तरीय उपनिषद् (१ । ११ । १) में कहा गया है कि सच बोलो—*'सत्यं वद।'*

शरशय्यागत भीष्मने युधिष्ठिरको सभी धर्मोंका रहस्य बतलानेके बाद प्राण छोड़नेके पहले सत्य-व्यवहारके लिये यत्न करनेको कहा था, क्योंकि सत्य ही श्रेष्ठ बल है—

'सत्येषु यतितव्यं वः सत्यं हि परमं बलम्।' (महाभा० अनु० १६७ । ५०)

गङ्गाजलपर वैज्ञानिक अनुसंधान

(लेखक—श्रीश्रीकृष्णजी श्रीवास्तव)

भारतीय वाङ्मयमें गङ्गाजल व परमपावनी भागीरथीकी अपार महिमा है। भारतीय व विदेशी मनीषियोंने भी इससे प्रभावित होकर अपनी भावनाओंकी पुष्पाञ्जलियाँ अर्पित की हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने तो एक ही अर्धालीमें सब कुछ कह दिया है—

गंग सकल मुद मंगल मूला। सब सुख करनि हरनि सब सूला॥

भारतकी प्राचीनतम सभ्यता व संस्कृतिने जिस किसी भी विषयका धार्मिक गुणगान किया है, उसमें लोकहितकी दृष्टिसे कुछ रहस्य छिपा है, जो वैज्ञानिक अनुसंधानसे स्पष्ट हो सकता है। गङ्गाजलपर वैज्ञानिक मत भी यही प्रमाणित करते हैं।

सन्‌१९३१में प्रख्यात जल-विशेषज्ञ डा० एफ० कोहिमान भारत आये। उन्होंने परीक्षाके लिये वाराणसीसे गङ्गा-जल लिया और सन् १९३२में उन्होंने जो कुछ लिखा उसका आशय यही था कि गङ्गाजल अत्यन्त स्वच्छ और पवित्र है, जिसमें रक्त बढ़ानेकी शक्ति और कीटाणु नाश करनेकी अद्‌भुत क्षमता है। शरीरके सर्वथा अशक्त होनेपर गङ्गाजल देनेसे जीवनी-शक्ति बढ़ती है और रोगी आश्चर्यजनक आनन्दका अनुभव करता है। विख्यात फ्रांसीसी डा० डी० हरेल और अमेरिकाके एक प्रसिद्ध लेखक मार्कट वेवने अपने शोध एवं अनुभूतियोंके आधारपर कहा है कि संक्रामक रोगोंको नष्ट करनेवाला सर्वश्रेष्ठ प्रयोग गङ्गा-जल है। सन् १९२४ में बर्लिनके प्रसिद्ध डा० जे० ओलिवर भारत आये। यहाँ उन्होंने प्रायः सभी प्रसिद्ध नदियोंके जलकी परीक्षा की। अन्तमें उनका एक लेख न्यूयार्कके 'इन्टरनेशनल मेडिकल जर्नल' (International Medical Journal) में प्रकाशित हुआ। उसमें उन्होंने अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया था कि गङ्गाका जल संसारके सब जलोंसे स्वच्छ, कीटाणुनाशक तथा स्वास्थ्यकर है। विज्ञानाचार्य श्रीहैनवरीने भी अनेक परीक्षणोंके उपरान्त गङ्गाजलकी प्रशंसामें अपना ऐसा ही मत व्यक्त किया था।

'कल्याण'के 'हिंदू-संस्कृति-विशेषाङ्क'में अनन्य गङ्गाभक्त पं० श्रीगङ्गाशंकरजी मिश्र, एम्० ए० का 'श्रीगङ्गा और यमुनाका जल' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें एक स्थानपर वे कहते हैं—'हैजाके रोगियोंके शव गङ्गा व यमुनामें फेंके जाते हैं। कहीं तो शव अधजले होते हैं और कहीं वैसे ही फेंक दिये जाते हैं—इस दृष्टिसे भी इन जलोंकी रासायनिक परीक्षा की गयी, जिससे पता चला कि इनके जलमें कुछ ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं, जिनमें हैजेके कीटाणुओंको नष्ट कर देनेकी शक्ति है। पहली परीक्षामें जल आध घंटेतक गरम किया गया, फिर उसे गङ्गा, यमुना तथा आगरेके नलके पानीको बराबर मात्रामें लेकर नलियोंमें भरा गया और उनमें कीटाणु छोड़े गये। परिणाम इस प्रकार हुआ—यमुनाजलमें १२५०० कीटाणु ४८ घंटेमें ५००० रह गये, नलके पानीमें १४००० कीटाणु उतने ही कालमें १५००० हो गये और गङ्गाजलमें १००००के ११००० हो गये। इसके बाद गङ्गाजल तथा कूपजलको बिना गरम किये हुए ही केवल अच्छी तरह छानकर परीक्षा की गयी तो फल इस प्रकार हुआ—गङ्गाजलमें ५५०० कीटाणु तीन घंटेमें ही साफ हो गये और कूपजलमें ८५००के ४९ घंटेमें १५०० हो गये। इससे यह सिद्ध हुआ

कि गङ्गाजलको गरम करनेसे उसमें कीटाणुओंको नष्ट करनेकी शक्ति जाती रहती है। इसलिये गङ्गाजलको गरम करना दोष माना जाता है।'

व्रजभाषाके महाकवि पद्माकरजी कुष्ठरोगसे ग्रस्त हो गये थे; किंतु गङ्गाके पावन तटपर रहकर गङ्गाजलके सेवन करते रहनेसे वे इस कठिन रोगसे मुक्त हुए।

गङ्गाजीके अनन्य भक्त पं० श्रीदयाशंकर दुबे, एम्० ए०, एल-एल० बी० ने लिखा है कि हम अपने अनुभवसे कह सकते हैं कि जब हमने गङ्गाजलका सेवन आरम्भ किया, तबसे हम कभी बीमार नहीं पड़े। सचमुच गङ्गाजलमें कुछ ऐसे तत्त्व हैं कि रोगी और दुर्बल मनुष्यको टानिक पीनेकी आवश्यकता नहीं रहती, गङ्गाजल पीने और स्नान करनेसे ही शरीरमें अपूर्व शक्ति और क्षमता आ जाती है। गङ्गाजल पीनेसे अजीर्ण रोग, जीर्ण ज्वर तथा संग्रहणी, राजयक्ष्मा, दमा आदि रोग नष्ट हो जाते हैं और गङ्गाजलसे स्नान करनेसे मस्तिष्कके समस्त रोग तथा चर्मरोग अच्छे हो जाते हैं।

मेरे परमपूज्य पिताजीको लकवा मार दिया था। वह अपङ्ग हो गये, स्मरणशक्ति जाती रही और सब विद्याका ज्ञान, यहाँतक कि वर्णमालाके अक्षरोंका भी ज्ञान नहीं रहा। इसपर उन्होंने गङ्गाजलका सेवन आरम्भ किया तो कुछ मासके अन्दर ही स्वस्थ हो गये तथा शक्ति व ज्ञान लौट आया।

आयुर्वेदकी दृष्टिसे भी गङ्गाजलमें रोग-निवारणकी अद्भुत क्षमता है। यात्री इब्नबतूता लिखता है—'सुल्तान मुहम्मद तुगलकके लिये गङ्गाजल बराबर दौल्ताबाद जाया करता था। अबुलफजलने आइने अकबरीमें लिखा है कि बादशाह अकबर गङ्गाजलको अमृत समझता था। घरमें, यात्रामें वह गङ्गाजल ही पीता था।' फ्रांसिसी यात्री बर्नियरने लिखा है—'दिल्ली और आगरामें औरंगजेबके लिये खाने-पीनेकी सामग्रीके साथ गङ्गाजल भी रहता था। स्वयं बादशाह ही नहीं दरबारके अन्य लोग भी गङ्गाजल प्रयोग करते थे।'

जिज्ञासा होती है कि गङ्गाजलमें कौन-से वैज्ञानिक गुण व तत्त्व हैं, जिनसे रोग नष्ट हो जाते हैं, शक्ति मिलती है और इसका इतना गुणगान किया जाता है?

रुड़की विश्वविद्यालयमें कुछ वर्ष पहले गङ्गाजलपर कुछ प्रयोग हुए थे, जिनसे यह निष्कर्ष निकला था कि गङ्गाजलमें बैक्टीरिया (रोगाणु) मारनेकी शक्ति अन्य जलोंसे अधिक है। डा० के० एल० रावने अपनी पुस्तक 'भारतके जल-साधन'में गङ्गाजलके विषयमें इतना लिखा है कि गङ्गाजलमें बैक्टीरियोफैज (जीवाणुभक्ष) अधिकतासे पाये जाते हैं। इसलिये वह बैक्टीरियाको खाकर गङ्गाजलको शुद्ध कर देते हैं और गङ्गाजलमें बैक्टीरिया जीवित नहीं रह सकते।

बिहार स्टेट कन्सट्रक्शन कारपोरेशन लि०के वर्तमान अध्यक्ष सह-प्रबन्ध-निदेशक डॉ० विभूति प्रसन्नसिंहने 'गङ्गाजल—एक वैज्ञानिक आचमन' शीर्षकसे 'धर्मयुग' १५ जनवरी १९७८के अङ्कमें एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने गङ्गाजलपर चल रहे अपने शोध और वैज्ञानिक पक्षका रहस्योद्घाटन किया है। इनके परीक्षणोंसे इसकी पुष्टि हुई है कि गङ्गाजलमें बैक्टीरिया जीवित नहीं रह सकते। बैक्टीरियोफैज अपना वंश बैक्टीरियाकी उपस्थितिमें ही बढ़ा सकते हैं, अर्थात् बैक्टीरियोफैज अपनी वृद्धि दूषित जलमें ही कर सकते हैं, जबकि गङ्गाजल गुण-धर्मकी वृद्धि साफ जलमें भी करता है। जो तत्त्व इलेक्ट्रान माइक्रास्कोपद्वारा कुछ मात्रामें कहीं-कहीं गङ्गाजलमें देखे गये और जिन्हें सिन्दरीके साधारण जलमें न देखा जा सका, उसी तत्त्वके जैसे दृश्य उस सिन्दरीके जलमें ३४०००

गुना अधिकतासे देखे गये, जिसमें गङ्गाजलकी कुछ बूँदे डाली गयी थीं।

अब प्रश्न यह उठता है कि गङ्गाजलमें वे कौन गुण हैं, जिनकी कुछ बूँदे किसी भी जलके दूषित रोगाणुओंका नाश कर देती हैं और उस जलमें रोग-निरोधक शक्ति रखनेवाले तत्त्वकी वृद्धि कर देती हैं।

गङ्गाजलमें पाये जानेवाले ये अज्ञात तत्त्व डा० सिंहके मतानुसार पूर्णतया बैक्टीरियाफैज न होकर उससे कहीं अधिक सक्षम कोई अन्य तत्त्व हैं, जिनका अलग नामकरण किया जाना चाहिये, नहीं तो भविष्यका अनुसंधान-कार्य सीमित दिशामें होने लगेगा। डा० सिंह गङ्गाजलमें प्राप्त उन तत्त्वोंके लिये, जो स्वयं अपने आपको रोगाणुओंके आक्रमणसे विमुक्त कर सकते हैं तथा जो दूसरे जलमें जाकर अपनी वृद्धिद्वारा उसके दूषणको समाप्त कर उसमें जीवाणुओंके आक्रमणसे विमुक्त हो सकनेकी शक्ति पैदा कर देते हैं, प्रति-विषाणु या अमृताणुका नाम प्रस्तावित करते हैं।

अन्तमें डा० सिंहने प्रस्ताव किया है कि अमृताणुओंके गुण-धर्मका व्यापक अध्ययन तथा शरीर एवं मनपर इनके प्रभावकी पूरी जाँच होनी चाहिये। बहुत सम्भव है कि भविष्यमें किसी नगर या विशेषकर ग्राम्य जलपूर्ति योजनाओंके लिये गङ्गाजल मिश्रण तथा थोड़ा विश्राम देनेके बाद जलकी पम्पिंग लाभदायक प्रथा सिद्ध हो सकती है और इससे जल पीनेवालोंमें रोग-निरोधक शक्तिकी वृद्धि हो सकती है। कई दशाओंमें सम्भव है कि फिटकिरी या क्लोरीन डालनेकी आवश्यकता ही न पड़े। गंगाजल डाल देनेसे तेलचट अव्यय समाप्त हो जाय और रजःकण बिना फिटकिरीके स्वतः बैठ जायँ तथा यह जल अपनी रोगाणुनाशक क्षमताके कारण अन्य जलको क्लोरीनके बिना ही रोगाणु-मुक्त कर दे। लेकिन इन दशाओंका तकनीकी तथा आर्थिक पहलुओंसे पूर्णतया परीक्षण आवश्यक है।

इसी प्रकार भारतकी प्राचीनतम सभ्यता एवं संस्कृतिने जिन विषयों या पदार्थों—जैसे तुलसी, गोदुग्ध, बिल्व-पत्र इत्यादिको विशेष महत्त्व दिया है, उनपर अनुसन्धान करके वैज्ञानिक तथ्योंसे अवगत कराकर मानव-मात्रका हित किया जाना चाहिये।

गङ्गाकी महिमा

प्राच्य ऋषि-महर्षियोंने गङ्गाजल पीकर तत्त्वोंकी गहरी छान-बीन की थी। प्रज्ञा और प्रतिभा देनेवाले गङ्गाजलकी महिमा तो है ही, उसमें धर्मके आद्य साधन—शरीरकी स्वस्थताके अनन्त गुणोंका अनुभव भी हमारे पूर्वजोंने हजारों वर्ष पहले कर लिया था और गङ्गाकी ऐहिक-पारलौकिक महत्ताका प्रतिपादन किया था। अपार महिमामयी आधि-व्याधिविदारिणी माँ गङ्गाके दिव्य गुणोंका कीर्तन स्कन्द-पुराणीय गङ्गास्तोत्रमें इस प्रकार मिलता है—

सर्वदेवस्वरूपिण्यै नमो भेषजमूर्तये ॥ सर्वस्य सर्वव्याधीनां भिषक् श्रेष्ठ्यै नमोऽस्तु ते ॥
स्थास्नुजङ्गमसम्भूतविषहन्त्र्यै नमोस्तुते ॥ संसारविषनाशिन्यै जीवनायै नमोऽस्तु ते ॥
तापत्रितयसंहन्त्र्यै प्राणेश्यै ते नमो नमः ॥

'सर्वदेव रूपिणी, औषधमूर्ति, सभी व्याधियोंकी सद्वैद्या, स्थावर-जंगम विषोंको हरण करनेवाली और संसार-विषको नष्ट कर देनेवाली जीवन-स्वरूपिणी एवं त्रितापोंकी शमनी, प्राणोंकी परमेश्वरी भगवती गङ्गाको बार-बार नमस्कार है।'

साधकोंके प्रति—

[निष्कामतासे लाभ और सकामतासे हानि]

(१)

शास्त्रोंमें कामनाओंके त्यागकी बड़ी महिमा गायी गयी है; परंतु इस विषयमें यह शङ्का हो सकती है कि क्या मनुष्य सुगमतापूर्वक सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर सकता है ?

भगवान्, शास्त्र और संत-महात्माओंके वचनोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे प्रतीत होता है कि मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग अवश्य कर सकता है* । यदि ऐसा सम्भव नहीं होता तो भगवान्, शास्त्र और संत-महात्मा कामनाओंके त्यागकी बात ही नहीं कहते । इस विषयपर आप स्वयं गहराईसे विचार करके अनुभव करें, किसी अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।

पहली बात यह है कि कोई भी कामना निरन्तर नहीं रहती । जो वस्तु निरन्तर नहीं रहती, उसका त्याग सुगमतासे किया जा सकता है । 'मैं हूँ' यह 'मैं'पन जाग्रत और स्वप्नकी अवस्थामें तो स्पष्टरूपसे दीखता है, परंतु सुषुप्ति (गाढ़ी निद्रा) की अवस्थामें छिपा रहता है; क्योंकि सुषुप्तिसे जागनेपर हम कहते हैं कि 'मैं बड़े सुखसे सोया' । इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिमें 'मैं'पनका अनुभव न होनेपर भी वह नष्ट नहीं होता । इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें निरन्तर रहनेवाले 'मैं'पनका भी त्याग करनेके लिये भगवान् कहते हैं—'**निर्ममो निरहंकारः**' (गीता २ । ७१) । फिर निरन्तर न रहनेवाली अर्थात् उत्पन्न और नष्ट होनेवाली कामनाके त्यागमें कोई कठिनाई नहीं माननी चाहिये । दूसरी बात यह है कि संसारमें हम जिस वस्तुकी कामना करते हैं, वह कभी तो प्राप्त हो जाती है और कभी उद्योग करनेपर भी नहीं मिलती । समस्त कामनाएँ पूरी हो ही जायँ—ऐसा कोई नियम नहीं है । कुछ कामनाएँ पूरी हो जाती हैं और कुछ कामनाएँ चेष्टा करनेपर भी पूरी नहीं होतीं—यह सबका अनुभव है । यदि पदार्थोंकी प्राप्तिमें कामना ही हेतु हो तो सबकी कामनाएँ पूरी होनी चाहिये, परंतु ऐसा होता नहीं । अतः कामनाकी पूर्तिमें कामना हेतु नहीं है । कामनाकी पूर्तिमें हेतु है—पुराने कर्मोंका फल जो मिलनेवाला रहता है । कामना करें अथवा न करें, जो फल मिलनेवाला

* प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् । आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

(गीता २ । ५५)

'पार्थ ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः । निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

(गीता २ । ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर स्पृहारहित, ममतारहित और अहंकाररहित होकर विचरता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है ।'

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

(कठोपनिषद् २ । ३ । १४)

'साधकके हृदयमें स्थित सम्पूर्ण कामनाएँ जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब वह मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और उसे यहीं (इस मनुष्य-शरीरमें ही) ब्रह्मका भली-भाँति अनुभव हो जाता है ।'

है, वह तो मिलेगा ही; जैसे—रोग होना, घाटा लग जाना, घरमें किसीकी मृत्यु हो जाना, निन्दा-अपमान हो जाना आदिके लिये कोई कामना नहीं करता; परंतु फिर भी वे होते हैं। विचार करना चाहिये कि हम जब रोगसे मुक्त होनेकी कामना करते हैं, तो क्या स्वस्थ हो जाते हैं? तात्पर्य यह है कि रोगकी कामना किये बिना भी रोग आता है और बिना कोई कामना किये भी नीरोगता रहती है। ऐसे ही घाटा लगनेकी कामना किये बिना भी घाटा लग जाता है और बिना कोई विशेष कामना किये भी मुनाफा हो जाता है। निन्दा-अपमानकी कामना न करनेपर भी निन्दा-अपमान होते हैं और बिना कामना किये भी प्रशंसा और सम्मान होते हैं। इसका कारण यही है कि ये सब पूर्वकृत कर्मोंके ही फल हैं, कामनाओंके नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि जो होनेवाला है, वह तो होकर ही रहेगा और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होगा—चाहे उसकी कामना करें या न करें।

यह सोचना चाहिये कि यदि कोई कामना पूरी हो जाती है तो उसके बाद हमारी क्या स्थिति होती है। मान लें कि किसीके मनमें यह कामना पैदा हुई कि मुझे सौ रुपये मिल जायँ, इसके पहले उसके मनमें सौ रुपये पानेकी कामना नहीं थी, अतः अनुभवसे यह सिद्ध होता है कि कामना उत्पन्न होती है। जबतक सौ रुपयोंकी कामना उत्पन्न नहीं हुई थी, तबतक 'निष्कामता' की स्थिति थी। उद्योग करनेपर जब सौ रुपये मिल जाते हैं, तब सौ रुपयोंमें संतोष नहीं होता—नयी कामना पैदा होती है कि मुझे हजार रुपये मिल जायँ। यदि सौ रुपये मिलनेपर संतोष हो जाय कि अब हमें अधिक कुछ भी नहीं चाहिये, तो भी (सौ रुपयोंकी कामना पैदा होनेसे पहलेकी) उसी 'निष्कामता' की स्थिति पुनः आ जाती है। फिर (सौ रुपयोंकी) कामनासे मिला ही क्या? केवल परिश्रम ही तो मिला! जिस प्रकार कोल्हूका बैल यदि उम्रभर चलता रहे तो भी वह एक कदम भी घेरेसे बाहर नहीं बढ़ पाता, वैसे ही कामनासे वस्तुतः कुछ भी मिलता नहीं है।

एक विलक्षण बात यह है कि अभाव होनेसे ही कामना पैदा होती है। जैसे अमुक वस्तु मेरे पास नहीं है, वह मिल जाय। यदि कामना पूरी नहीं होती तो आप व्याकुल होते हैं और सोचते हैं कि यह कामना कैसे पूरी हो? क्या उपाय करें? अभीष्ट वस्तुके न मिलनेपर आप पराधीनताका अनुभव करते हैं और यदि वह मिल जाय तो आप अपनेको स्वाधीन समझने लगते हैं। रुपयोंके मिलनेपर आप ऐसा सोचते हैं कि 'अब हम स्वाधीन हो गये, चाहे जो वस्तु खरीदें, चाहे जहाँ रुपये खर्च करें, रुपयोंके बलपर अब हम इच्छित वस्तुको प्राप्त कर सकते हैं' इत्यादि। पर थोड़ी गहराईसे विचार करके देखें कि रुपये 'स्व' हैं या 'पर'? अर्थात् आप स्वरूपतया रुपये ही हैं या आप रुपयोंसे भिन्न हैं? रुपयोंको आप कमाते हैं, इसलिये वे आपसे भिन्न अर्थात् 'पर' ही हैं। अतएव उन रुपयोंके अधीन होनेसे आप पराधीन ही तो हुए। जो पराधीनता वस्तुके अभावमें कामनाके कारण रहती है, वही पराधीनता वस्तुके मिलनेपर भी रहती है। तात्पर्य यह कि कामना-की पूर्ति और अपूर्ति—दोनोंमें पराधीनता बराबर ही रहती है। जबतक मनमें कामना है, तबतक पराधीनता है। कामनाके नहीं होनेसे हम स्वाधीन हो जाते हैं।

> चाह गयी चिंता मिटी मनुवा बेपरवाह।
> जिसको कछू न चाहिये सो है शाहनशाह॥

कामना नहीं होनेपर मनुष्य 'शाहोंका भी शाह 'शाहन-शाह'—राजाओंका राजा बन जाता है। कामनाके रहते हुए मनुष्यके पास चाहे कितने ही रुपये आदि पदार्थ हों, परंतु वह गुलाम ही रहेगा। (कामनासे रहित ही राजाओंका भी राजा महाराज है।)

पापका प्रायश्चित्त

(एक प्रेरक कहानी)

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

ऋषिकेशमें घटित आठ-दस वर्ष पूर्वकी एक विचित्र आपबीती है, जो स्मृतिमें सँजोये हूँ और भुलाये नहीं भूलती। 'कल्याण'के पाठकोंकी जानकारीके लिये उनकी सेवामें इस घटनाको यथा सम्भव सच्चे रूपमें उपस्थित करनेका प्रयास किया जा रहा है।

हमलोग महात्माओंके सत्सङ्गका पुण्य-लाभ लेनेकी दृष्टिसे हरिद्वार, ऋषिकेश यात्रापर गये थे। वहाँ पहुँचकर महात्माओंके विषयमें जानकारी प्राप्त की तो एक टाटवाले बाबाकी कीर्ति तथा अलौकिक सिद्धियों, धर्म-कर्म, तपश्चर्या और समाजसेवा-भावनाकी बड़ी प्रशंसा सुनी गयी। भक्तोंने कहा कि ऋषि अतीन्द्रिय हैं। गर्मी-सर्दी-बरसातमें शरीर-रक्षाके हेतु केवल एक टाट लपेटे रहते हैं और एक सुदूर पर्वत-कन्दरामें जंगली फल-फूल खाकर निर्वाह करते हैं। स्वसाधनाके अतिरिक्त आस-पासके ग्रामीण और पर्वतीय प्रदेशकी समस्याओंको हल भी करते हैं। वे सच्चे अर्थमें साधु पुरुष हैं। उनके दर्शन और प्रवचन सुने बिना धर्म-यात्रा अधूरी ही रहेगी। सच्चा साधु धर्मका रूप होता है।

'कबिरा संगति साधुकी, हरै और की व्याधि।

सत्सङ्गति कल्पलताके समान मधुर फल देनेवाली है। अतः सत्सङ्गका निश्चय हुआ। खोजते-खोजते ऋषिकेशके एक सुदूर पर्वतीय कन्दरामें वे हमलोगोंको मिले। आश्चर्यमिश्रित हर्षसे हमने ७५-८० वर्षके एक स्वस्थ वृद्ध साधु पुरुषको देखा, जिनकी लम्बी श्वेत दाढ़ी, तपा हुआ शरीर, ज्ञानसे बोझिल अन्दर धँसे हुए नेत्र, उद्दीप्त मस्तक, दन्त-विहीन मुख—कुल मिलाकर तेजोमय आकृति थी। प्रकृतिके अञ्चलमें पर्वतकी वह कन्दरा ही उनका निवास थी। एक कोनेमें जंगली फलोंका ढेर, कच्ची मूँगफली, बेर इत्यादि, नग्नता ढकनेके लिये टाटका एक कपड़ा शरीरपर लपेटे हुए थे। भक्तजन एकत्र थे वहाँ, उनका प्रवचन, अनुभव, ज्ञानोपदेश सुनने, परामर्श लेने, आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये। हलके-हलके स्वरमें शङ्का-समाधान चल रहे थे। हमलोग भी जिज्ञासावश एक ओर बैठ गये। हम उत्सुकतासे उनका चेहरा निहारने लगे।

वे देरतक शान्त बैठे रहे। लोग उनकी बातें सुननेको उत्सुक थे। अन्ततः उन्होंने नेत्र खोले। यकायक सबका ध्यान उधर आकृष्ट हुआ; उन्होंने उत्सुकतासे उपस्थित जन-समुदायको देखा। सौभाग्यसे उनकी आँखें मुझपर आकर अटक गयीं। हमने सकुचाते हुए निवेदन किया—'महात्माजी, आपके पुण्य-दर्शनका लाभ लेनेको बहुत दूरसे आये हैं। जैसा सुना था, वैसा ही पाया है, आपको।'

वे बोले—'मनुष्यकी बाहरी वेश-भूषासे कुछ भी अनुमान नहीं लगाना चाहिये। वह प्रायः धोखा देनेवाली होती है। मैं तो एक लम्बा प्रायश्चित्त कर रहा हूँ।' फिर वे चुप हो गये, जैसे अपने अतीतके चुभते-चीखते मानस-चित्रको उभारना चाहते हों।

'कैसा प्रायश्चित्त महाराज?' आश्चर्यसे सबने जिज्ञासा प्रकट की। एक महात्माके जीवनमें भी क्या कोई ऐसा अनुचित कार्य हो सकता है जिसका उसे प्रायश्चित करना पड़े? सभी उत्सुक थे। वे काफी देरतक विगत-जीवनकी गाथा स्मरण करते रहे। उनका अतीत चल-चित्रकी भाँति अब मुखर होना चाहता था।

'सुनाइये न महाराज!' हमने फिर आग्रह किया। अतीतके करुण-पृष्ठोंको एक-एक कर खोलते हुए वे एक दीर्घ निश्वास छोड़कर बोले—'सुनकर आप सब विश्वास न करेंगे। जिस अस्थि-पिंजरवत् वृद्ध साधुको आप अपने सामने देख रहे हैं, वह ऐश्वर्य-नगरी बम्बईका एक

पुराना करोड़पति है, रुपये-पैसे-विलास-वैभवसे ऊबा हुआ धनिक !' यह साधुरूप उसका परिवर्तित रूप है ।

यह सुनकर तो मैंने दाँतों तले उँगली दबा ली। कहाँ हमारे सामने बैठा हुआ नंग-धड़ंग संन्यासी और कहाँ उसके करोड़पति होनेकी सम्भावना ! सामाजिक जीवनके दो छोर—अंधकार और प्रकाश ! विलासी और विरागी !

हमारी बढ़ती हुई जिज्ञासा देखकर वे फिर कहने लगे—'सुनकर आप सब आश्चर्य कर रहे हैं, पर असलियत यही है । कहते हुए लज्जा आती है, मैंने अपनी प्रारम्भिक जीवनयात्रा दादागिरी (चोरी, डकैती, लूट-खसोट, हिंसा, हत्या आदि दुष्कर्मों) से प्रारम्भ की थी। संयोगसे एक दिन हमारे दस्यु-दलके चंगुलमें सुन्दर, बीस वर्षीय एक धनाढ्य व्यापारी फँस गया। हमारे जासूसोंने सूचना दी कि उस धनिकके पास गुप्तरूपसे छिपे हुए चाँदीके लगभग बीस हजार रुपयोंकी राशि है । इतनी बड़ी रकम मिलनेसे मुझे बड़ा लाभ हो सकता था । जीवनमें इतनी बड़ी धन-सम्पदा प्राप्त होनेसे आगेका मार्ग सुगम बन सकता था, भोग-विलासके बहुतसे साधन जुटाये जा सकते थे, आमोद-प्रमोद किया जा सकता था । समाजमें पैसेके बलपर सभी सांसारिक आनन्द भोगे जा सकते थे । चढ़ती जवानीमें मुझे पैसा ही सब कुछ दिखायी देता था । वासनाएँ जोर मार रही थीं । पैसेके बलपर संसारका वैभव, सुख, विलास, इन्द्रिय-सुखोंका उपभोग करूँ; सांसारिक समृद्धिके उच्चतम शिखरपर पहुँचूँ; धनसे ही सब कुछ मिलता है, मुझे ऐसा लगता था और मैंने यही सिद्धान्त बना लिया था। वासनाओंसे उद्दीप्त यौवन अन्धा होता है । योजनाबद्ध तरीकेसे भोजनमें विष देकर मैंने धनवान् व्यापारीकी हत्या कर दी और खूब रुपये बटोरे ।

लेकिन अब धन-सम्पदा और टीप-टापने मेरे बूढ़ेपनमें भी नया आकर्षण भर दिया । पकी आयुमें विवाहके लिये रिश्ते आने लगे । दाम्पत्य-जीवन जीनेकी वासनाएँ दबी हुई थीं । दलित इच्छाओंने जोर मारा । हाय, मैंने विवेकशून्य होकर अपनेसे आधी आयुकी एक तेईस-चौबीसवर्षीया युवतीसे विवाह कर लिया । अनमेल आयुका लड़खड़ाता हुआ हमारा वैवाहिक जीवन प्रारम्भ हुआ । हमने हर प्रकारके सांसारिक आनन्द-उपभोग किये । किस्मतकी बुलन्दगी देखिये, मेरे एक पुत्रने जन्म लिया । वह भी इतना खूबसूरत जैसे दमकते हुए चाँदका टुकड़ा ! उससे मुझमें वात्सल्य भाव जाग्रत हुए ।

धनके स्थानपर अब मैं पुत्रके वात्सल्यमें डूब गया, वह मेरे गिरते जीवनका प्रकाश और आनन्द था । आह ! कैसा आनन्द था वह । ओह ! कैसा सुख था उस शिशुको पालने, प्यार करनेमें ! माता यशोदा बालकृष्णको ऐसे ही वात्सल्यभरा हृदय लुटाती होंगी । उसे खिलाने-पिलाने पालने-पोषने और साथ रखनेमें मुझे असीम उल्लासकी अनुभूति होने लगी । मेरी सारी ममता उस बच्चेमें केन्द्रित हो उठी । हमारा मन वहीं जाता है, जहाँ हम राग-द्वेषसे सम्बन्ध जोड़ते हैं । मेरा मन पुत्र-स्नेहमें अनुरक्त हो गया । बहुत खर्च कर उसे बड़ा किया । पाला-पोसा, पढ़ाया, उसे लाड़ लड़ाया, सब कुछ उसपर न्योछावर कर दिया। बड़ा होते-होते वह विवाहयोग्य भी हुआ । वह देखनेमें बड़ा आकर्षक एवं प्रतिभाशील था । ऐसे सुयोग्य पुत्रको पाकर मैं अपने आपको संसारका सबसे भाग्यशाली व्यक्ति समझने लगा ।

ईश्वर हमें पापकी सजा देते हैं । अनैतिक कमाई क्षणभरमें नष्ट हो जाती है । हमारे दुष्कर्म अन्तमें हमें अवश्य सजा दिलवाते हैं । ईश्वरकी हजारों आँखें हैं, जिनसे वह हमारे शुभ-अशुभ कर्मोंका लेखा-जोखा रखता है। पापसे बचाने और सत्य, न्याय, विवेकके मार्गपर

चलनेके लिये हमें दैवी-संकेत मिलते हैं, अपना सुधार करनेके अवसर दिये जाते हैं। भिन्न-भिन्न रूपोंमें गलत रास्तोंसे बचनेकी चेतावनी भी मिलती है; पर खेद है कि अपने ऊपर पापका पर्दा पड़ा रहनेके कारण हम इन दैवी संकेतोंकी ओर ध्यान ही नहीं देते, अनसुनी कर देते हैं। कभी पाप-कर्मसे डरकर थोड़े दिन नेक मार्गपर चलते भी हैं तो प्रलोभनोंके आगे फिर फिसल जाते हैं और पुनः अवनतिके रास्तेपर चलने लगते हैं। ईश्वरकी कृपासे बड़ी सजा पाकर अथवा विरक्त होकर धर्मके सच्चे स्थायी मार्गपर अग्रसर होते हैं। परमात्माने मुझे झटका दिया। जिन्दगीने नयी करवट ली।

एक दिन दुर्भाग्यसे मेरा प्यारा-दुलारा पुत्र बीमार पड़ा। पहले उसे साधारण-सा बुखार ही था। मैंने समझा जवान आदमी है, स्वयं ही स्वस्थ हो जायगा। दिन कुछ ऐसे बुरे आये कि छोटी-सी बीमारी बढ़ती ही गयी। उसे हल्का-हल्का ज्वर रहने लगा। चिन्ता हुई तो बड़े डाक्टरोंकी चिकित्सा करायी गयी। दिल खोलकर इलाजपर खर्च किया, किंतु सब व्यर्थ हो गया। उसका यक्ष्मारोग ठीक ही न हुआ। मेरी पत्नी भी दिन-रात उसीकी चिकित्सामें लगी रहती। फलतः वह भी दुःखी बनी हुई परेशान-सी रहने लगी। स्वभावकी भावुक थीं। एक दिन अचानक ही हृदयकी गति बंद होनेसे वह स्वर्गवासिनी हो गयी। मुझपर तो जैसे वज्रपात हुआ। बसी-बसायी गृहस्थी उजड़ गयी। पुत्रकी बीमारी-का सारा भार अब मुझपर आ गया। एक तो भयंकर मानसिक क्लेश, उसपर पुत्रकी गिरती हुई अवस्थाने मेरी मनःस्थितिको जर्जरित कर दिया। मैं प्रत्येक रातको अकेला बैठ-बैठा सरदर्दसे चूर रहता। इस सरदर्दका कारण था—निराशा, कटुता, कुण्ठा और चिन्ताका भार तथा लड़केकी गिरती हुई अवस्था। विपुल धन-सम्पदाके बावजूद मैं न शान्तिसे खा सकता था, न चैनसे सो सकता था। जो सुनहरे स्वप्न मैंने युवा-वस्थामें देखे थे, वे अब दुःस्वप्न बनकर रह गये। मैं दूरस्थ और संदिग्ध भविष्यमें सुखी होनेकी सोचता, पर पुत्रकी बीमारीने मेरे कल्पना-महलके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। विगत और आगतके मानसिक भारसे मैं लड़खड़ा गया। मानसिक कष्ट और स्नायुकष्ट मेरे पीछे लग गये। क्या करूँ? लड़केको मौतके मुँहसे कैसे बचाऊँ? यही सोचता रहता। डाक्टर, वैद्य, हकीम, झाड़-फूँक करनेवालोंपर भी अनाप-शनाप व्यय किया, पर सब व्यर्थ होता गया। मेरा बहुत-सा धन इस लम्बी बीमारी और पत्नीकी मृत्युमें व्यय होकर नष्ट हो गया। पर हाय! उसकी गिरती हालतमें कोई सुधार न होना था और न हुआ।

रात्रिमें मैं अपने बीमार पुत्रको पास लिटाता। उसके दूसरी ओर उसकी धर्मपत्नी चिकित्सा और सेवाके लिये रात्रिभर पास पड़ी रहती। कई बार उठती, उसे दवाई पिलाती और सम्हालती रहती।

एक रात एक भयावनी घटना घटी, जिसे याद कर आज भी डर जाता हूँ। परंतु उस रोमाञ्चक घटनाने मेरा जीवन बदल दिया, पता नहीं कब मुझे नींद आ गयी। यकायक मुझे ऐसा लगा जैसे कोई मेरे सीनेपर बैठा मेरा गला दबा रहा हो! मेरी श्वास रुकने लगी। मैं हड़बड़ाया। डर गया, बोलना चाहता था, पर शब्द गलेमें ही आकर रुक जाते थे। बड़ा साहस एकत्रकर मैं भयभीत स्वरमें चिल्लाया—'अरे! यह मेरे सीनेपर कौन चढ़ा बैठा है? कौन निर्दयतासे मेरा गला दबा रहा है? उतरो, मेरे सीनेसे!' मैं हिलने-डुलनेकी बहुत कोशिश कर रहा था, पर शरीरमें मजबूत होनेपर भी बेबस था। कुछ भी बन न पड़ता था कि क्या करूँ? किससे प्राण-रक्षाके लिये याचना करूँ?

मैं पुनः साहस बटोरकर चिल्लाया—'अरे, मेरी छातीपरसे उतरते क्यों नहीं? मैं तो मरा जा रहा हूँ और तुम सुनते ही नहीं?'

बोझसे मेरा सारा शरीर दबा जा रहा था। हलकसे बोल न निकला, जैसे तालु सूख गया हो!

'हे ईश्वर ! यह कौन दुष्ट मेरा गला घोंटे जा रहा है ? भूत····प्रेत अथवा जीन,····कौन है ? दीखता नहीं, पर मारे डाल रहा है ।' मेरा सारा शरीर बुरी तरह निर्बल हो गया, पसीना चूने लगा था—डरके कारण ।

सचमुच वह प्रेतात्मा ही निकला । डरावनी आवाजमें बोला—'मैं उसी युवक व्यापारीकी दुःखी, अतृप्त भटकती हुई प्रेतात्मा हूँ, जिसकी तुमने निर्मम हत्या की थी, जिसका सारा धन हड़पकर तुमने सट्टेका काम शुरू किया था । मैं तुमसे अपनी क्रूर हत्या, दगाबाजी, धोखाधड़ी और हिंसाका बदला लेनेको तभीसे भटक रहा हूँ । मैंने ही इस बीमार रहनेवाले पुत्रके रूपमें जन्म लेकर तुम्हें हर तरह परेशान किया है । मेरा प्रतिशोध चल रहा है । इस जन्ममें तुम्हारी पत्नीके रूपमें रहनेवाली यह वही दुष्ट वेश्या थी, जो तुम्हारे खूनी इरादोंमें पिछले जन्ममें षड्यन्त्रोंकी भागीदार बनी थी । दूषित कर्ममें लगे रहनेके कारण इसे भी पुत्र-वियोगके रूपमें जीवनभर दुःखदायक सजा मिली है। जबतक तुम यह सब करते हुए पुराने पापोंका प्रायश्चित्त नहीं कर लेते, तबतक यों ही गल-गलकर मरोगे, रोग-व्याधिसे परेशान रहोगे ।'

मैं उन शब्दोंको कभी भूल न पाया । प्रत्येक शब्दपर सारी रात विचार करता रहा । मैंने उन्हें व्यावहारिक जीवनमें उतारनेका संकल्प कर लिया ।

प्रातःकाल मैंने देखा कि मेरा प्रिय पुत्र मरा पड़ा है । मुझे रातकी घटनापर अत्यन्त आश्चर्य होता रहा ।

अब मेरी आँखें खुल गईं । मेरा सारा मोह नष्ट हो गया । मुझे विश्वास होने लगा कि—यह संसार कर्मफलके आधारपर ही चल रहा है । जो कर्मके रूपमें जैसा बोता है, वैसा ही शुभ-अशुभ भुगतता है । दूसरोंके हित-अहितके लिये जो कर्म किया गया है, उसकी प्रतिक्रिया कर्ताके ऊपर अनिवार्य रूपसे बरसती है । यदि पापकी सजा न मिले, तो मानव-समाजमें दुष्कर्म ही फैल जाय । दुष्कार्योंके लिये ईश्वरीय सजा न मिले तो पापी कुछ भी कर गुजरते, प्रतिफलकी परवा न करते। मैं अब विचार किया करता हूँ कि—कुकर्मकी सजासे कोई बच नहीं सकता । सजाके रूपमें तुम्हारी सारी अनैतिक कमायी नष्ट होने जा रही है । पापकी लौकिक सम्पदा निःसार है । यह सारी सम्पत्ति नष्ट होगी ही । इसे अब कोई रोकनेवाला नहीं है । इससे तुम्हें कोई भी स्थायी सुख-शान्ति, संतोष, स्वास्थ्य आदि मिलनेवाला नहीं है ।

निष्कर्ष यह कि माया-मोह और वासनाके मोह-जालमें फँसा हुआ व्यक्ति सदैव यों ही परेशान रहता है । कामनाओं और वासनाओंसे मुक्त हुए बिना लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय किसी भी मूल्यपर नहीं हो सकता ।

अब रात-दिन मेरा चिन्तन चलता रहता है कि मनुष्यके समस्त शोक-संतापों, वासनाओं-तृष्णाओंकी समाप्ति उस समय होती है, जब वह परमात्मासे तादात्म्य स्थापित करनेमें सफल हो जाता है । धर्माचरण ही वह उपाय है, वही एक सुमार्ग है, जिसके माध्यमसे अक्षय सुख-शान्ति-प्रदायिनी ब्राह्मी स्थिति सहज ही प्राप्त की जा सकती है । सज्जनता, सरलता, सादगी, सहानुभूति, समवेदना, सेवा, दया, न्याय, औचित्य, विवेक आदि धर्मके भावनात्मक रूप हैं, जिन्हें धारण करनेसे स्थायी शान्ति मिल सकती है । श्रम, संयम, न्याय, सत्साहस आदि बाह्य सत्कर्म सदाचार हैं, जो स्थायी आनन्द देनेवाले हैं ।

अन्तमें खूब सोच-समझकर अपनी सारी सम्पत्ति पुत्र-वधूको सौंप यहाँ आ बैठा हूँ और जनसेवा, सत्कर्म, सद्भाव, सहानुभूतिद्वारा पीड़ित मानवकी जैसी भी बन पाती है यत्किञ्चित् सहायता कर प्रायश्चित्त कर रहा हूँ। इतनी लम्बी इस साधनाके फलस्वरूप अब मनको कुछ शान्ति मिली है । धन और प्राण दोनों चले जानेवाले हैं । इस चलाचलीके संसारमें केवल धर्माचरण ही स्थिर है ।' बस, यही सार बात मुझे आपसे कहनी है ।'

उस महात्माकी आपबीती सुनकर मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा कि भगवान् सब कुछ देखता है और प्रत्येक पापकर्मके लिये सजाके रूपमें दैवी विधान है ।

अमृत-बिन्दु

जो मनुष्य सचमुच भगवान्‌के नामका आश्रय ले लेता है, वही भाग्यवान् है, वही सुखी है और वही सच्चा साधक है।

* * * *

संसारमें अनुकूल-प्रतिकूल—ये दो वृत्तियाँ रखना ही संसारमें बँधना है।

* * * *

प्रकृति और पुरुषका एकताकी मान्यतावाला सम्बन्ध छूटनेपर क्रियाएँ तो होंगी, पर कर्म नहीं होंगे।

* * * *

न्यायोपार्जित द्रव्यसे एक मुट्ठी चना ही मिले तो वह भी मेवा-मिष्टान्नोंसे बढ़कर है।

* * * *

परस्त्रीके दर्शन, चिन्तन एवं स्पर्शका तो त्याग कर ही देना चाहिये, यदि किसी कार्यसे आवश्यक बात करनी ही पड़े तो नीची दृष्टि रखकर माता-बहिन समझते हुए ही सम्भाषण करना चाहिये।

* * * *

सद्‌व्यवहार और सद्भावसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

* * * *

प्रतिकूल परिस्थिति साधकको शुद्ध बनाने तथा सजग करनेवाली होती है।

* * * *

परमात्म-प्राप्ति जडताके त्यागसे होती है, जडताके द्वारा नहीं।

* * * *

संसारसे हमें शरीर, पदार्थ, बल, योग्यता, अधिकार आदि जो कुछ भी मिला है, वह अपने लिये नहीं, अपितु संसारका है, और उसीकी सेवामें लगानेके लिये ही मिला है।

* * * *

समयका ठीक पालन (सदुपयोग) न करनेवाला व्यक्ति किसी भी क्षेत्रमें सफल नहीं हो सकता।

* * * *

संसारके पदार्थोंसे वैराग्य और सबमें ईश्वर-दृष्टिसे प्रेम करनेका उद्देश्य रखना चाहिये।

* * * *

भगवान्‌का भय और भगवान्‌का भरोसा ही मनुष्यको पापसे बचानेका एकमात्र सर्वोत्तम साधन है।

* * * *

जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकारको कहीं जगह नहीं मिलती, इसी प्रकार ईश्वर-प्रेमकी जागर्ति होनेपर विषयासक्तिका नाश हो जाता है।

* * * *

जो एक क्षण भी नहीं टिकता, उस संसारको प्राप्त मान लिया, इसीसे जो परमात्मा नित्य-निरन्तर 'प्राप्त' हैं, उनका अनुभव नहीं होता।

* * * *

निःस्वार्थ सेवा करनेवालेको दो वशीकरण मन्त्र सदा याद रखने चाहिये—पहला मन्त्र है, यह—दूसरोंके गुण देखें, अवगुण नहीं, दूसरा मन्त्र—सबके हितकी सदा चेष्टा रखे।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

मौन शिक्षा

घटना उन दिनोंकी है जब लोकमान्य तिलक वकालतका व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये दादाभाई नौरोजीके साथ रहते थे। नौरोजी मितव्ययी थे। जो धन तथा समय अपनेसे बचता उसे वे देश-सेवामें लगाते।

एक बार किसी मुकदमेके सिलसिलेमें दादाभाईको इंग्लैंड जाना पड़ा, साथमें तिलक भी गये। नौरोजी मितव्ययिताकी दृष्टिसे लंदनमें न ठहरकर थोड़ी दूर स्थित एक कस्बेमें ठहरे। नौरोजी बड़े सवेरे उठते, घरकी सफाईसे लेकर कपड़ोंकी धुलाई तथा जूतोंकी पालिश आदितक सब काम स्वयं अपने हाथोंसे ही कर लेते थे।

एक दिन वे जूतोंकी पालिश कर रहे थे कि तिलक जाग पड़े। उन्हें देरसे जगनेकी आदत थी। नौरोजीको पालिश करते देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ। वे बिस्तर छोड़कर दौड़ उठे तथा नौरोजीसे जूते छीनने लगे और बोले—'क्या आज नौकर नहीं आया' जो आपको यह काम करना पड़ा?'

'नहीं, ऐसी बात नहीं है।'

दादाभाईने उत्तर दिया।

तो फिर आप········यह········!

'नहीं, मैं अपने जूते आप ही साफ करता हूँ। अपने किसी कामके लिये मैं दूसरोंके आश्रित नहीं रहता।' नौरोजीजीने तिलकको समझाया।

इस घटनाका तिलकके मनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्हें उस दिन स्वावलम्बी बननेकी प्रेरणा और एक उत्तम मौन सीख मिली। मन-ही-मन उनका मस्तक दादाभाई नौरोजीके चरणोंमें नत हो गया। —शिवचरणसिंह चौहान

(२)

'व्याजसहित लौटा रहा हूँ'

मेरे दूर सम्बन्धके एक मामाकी बम्बईमें आज बहुत बड़ी कपड़ेकी दूकान है। आजसे ३० वर्ष पूर्व अत्यन्त निर्धनताके कारण वे एक परिचित व्यक्तिके साथ बम्बई गये थे। तब उनकी आयु २० वर्षकी थी। बम्बईमें उन भाईके सहयोगसे कपड़ेकी दूकानमें उन्हें नौकरी मिली थी। प्रारम्भमें तो प्रातः दूकान खोलना, दूकानमें झाड़ू लगाना, गद्दी-तकिया लगाना—ये सब काम करते थे, परंतु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, त्यों-त्यों उनमें व्यापारिक लेन-देन तथा समझकी जिज्ञासा बढ़ती गयी और कपड़ेकी अनेक प्रकारकी पहचान, किस प्रकारका कपड़ा किस मिलसे मँगवाना, किस भावसे बिक्री करना, ग्राहकके साथ किस प्रकार बातचीत करना आदि वे अच्छी तरह समझने लगे। सेठ भी उदार-हृदय थे; इसलिये मेरे इन मामाकी योग्यताके अनुसार अब उन्हें बड़ा-से-बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण काम सौंपने लगे। धीरे-धीरे मेरे मामा खरीदका काम, बही-खातेका काम, बैंक-व्यवहार आदिका काम भी सेठकी ओरसे करने लगे। लगभग दस वर्षतक इस प्रकार अनुभव करके स्वतन्त्र दूकान करनेकी उनकी इच्छा हुई। सेठके सामने उन्होंने बात रक्खी तो सेठने उन्हें प्रोत्साहन दिया, थोड़ी सहायता भी की और स्वतन्त्र दूकान खुलवा दी।

समय कैसे पलटा खाता है! मेरे मामाकी दूकान तो बराबर जम गयी, परंतु उस सेठकी दशा गिरने लगी। उसमें बड़ी परेशानी यह थी कि सेठका लड़का कुमार्गपर चल रहा था। एक ही लड़का, वह भी न पढ़ा और न व्यापारमें पड़ा। सेठजीकी वृद्धावस्था आ गयी थी। अनेक रोग आक्रमण कर रहे थे; अतः वे दूकानपर बैठ नहीं सकते थे। लड़केके खर्च हाथके बाहर जा रहे थे, स्वयंके इलाज और दवामें भी बहुत व्यय हो रहा था। अन्ततः उनका व्यापार बंद हो गया। जीवनके

अन्तिम दिन आ गये। तब एक दिन उन्होंने मेरे मामाको बुलवाया। मामा तो उनके ऋणी थे ही। सेठकी ऐसी दशा देखकर उनकी आँखोंमें आँसू आ गये। उन्होंने कहा—'अरे सेठजी! व्याधियोंसे आपकी ऐसी अवस्था हो गयी है, इसकी मुझे कल्पना भी नहीं थी। आपने मुझे बहुत दिया है। मार्गदर्शन एवं आर्थिक सहायता करनेमें आप कभी पीछे नहीं रहे। आज मैं जो कुछ भी हूँ, वह आपके प्रतापसे ही हूँ। आप कोई चिन्ता न करें। मेरे पास जो कुछ है, उसे आप अपना ही समझें।'

सेठने कहा—'अब तो मैं थोड़े दिनोंका मेहमान हूँ। पुत्र कुपुत्र हो गया है। मेरा सर्वस्व इसने मौज-शौकमें नष्ट कर दिया, उसे तुम्हारी सहायतासे प्राप्त धन खर्च करते कितनी देर लगेगी? इसलिये तुम एक काम करो। मेरा पुत्र अभी युवक है। इसके सुधारकी आशा अभी मैंने बिल्कुल छोड़ नहीं दी है। कुछ नहीं तो मेरी मृत्युसे तथा पीछे अपने ऊपर पड़नेवाले कुटुम्बके उत्तरदायित्वसे सम्भवतः इसकी आँखें खुलेंगी। मेरी मृत्युके पश्चात् यदि सम्भव हो तो तुम इसे अपनी दुकानपर नौकर रख लेना।'

मामाकी आँखोंमें आँसू आ गये।

इस बातचीतके चार महीने पश्चात् सेठकी मृत्यु हो गयी। शोकके अवसरके निमित्तसे मेरे मामा नित्य सेठके घर बैठने जाया करते। एक-दो महीनेमें मामाने सेठके लड़केको अच्छी तरह समझा लिया। सेठका लड़का मेरे मामाकी दुकानपर बैठने लगा। समय और स्थितिके अनुसार उसने अपने मौज-शौकके खर्च एकदम कम कर दिये। व्यापारिक संस्कार तो अन्तःकरणमें थे ही। धीरे-धीरे जीवनमें बहुत उन्नति होने लगी। अब जीवन सुधार-पथपर था।

मेरे मामाके विवाहयोग्य पुत्री थी। मामाने सेठके लड़केके साथ उसका सम्बन्ध कर दिया। वह तो धन्य-धन्य हो गया। मामाने कहा—'मैं तो केवल ऋण चुका रहा हूँ और अब तो तुम्हारे ही सुखमें मेरा भी सुख निहित है। तुम्हारे पिताने मेरे लिये जो किया है, वह तुम्हें व्याजसहित लौटाना चाहिये। अन्ततः तो हम व्यापारी हैं न?' मामाके इन सीधे-सादे वचनों एवं सत्प्रयत्नोंने एक विपथ-गामी युवक और डूबते हुए घरकी प्रतिष्ठा बचाकर उसे सम्मानके बाजारमें समानान्तर लाकर खड़ा कर दिया। यह सब उन्होंने किसी परोपकारकी भावनासे नहीं; अपितु सेठके अहसानोंसे उऋण होनेके लिये मात्र कर्तव्य-भावनासे किया था।

—बी० बी० चन्दाराणा (अखण्ड आनन्द)

(३)

माँका अनुग्रह

घटना मार्च १९७७की है। पत्नीके बार-बार आग्रहपर दो सालके बाद अपने बड़े लड़के कैलासके लिये पूर्व संकल्पित कैलादेवीकी जात देने (पूजा चढ़ाने)के लिये हम तीनों ग्वालियरसे धौलपुर, करौली होते हुए श्रीकैलादेवी (करौली स्टेट) पहुँचे। हमारे पास एक अटैची तथा एक बिस्तरबन्द था। बसके रुकनेपर दोनों चीजोंको बसमें रखकर प्रसाद लेने चले गये। इतनेमें देखते क्या हैं कि बस तो हमारे सामानको लेकर चली गयी और हम वहीं रह गये। अटैची एवं बिस्तरमें करीब पचीस सौ रुपयेका सामान तथा नगदी था। तलाश करनेपर मालूम हुआ कि यह बस करौली, हिन्डोन होते हुए महुआ जायगी तथा इसके पीछे-पीछे दूसरी बस इसी मार्गसे आधा घंटा बाद जायगी। मैंने श्रीकैलादेवीमें करौली पुलिसस्टेशनपर इस घटनाकी सूचना दे दी और उनसे निवेदन कर दिया कि बस जब करौली पहुँचे तो मेरा सामान उतार लिया जाय। मैं इसके बादवाली बससे आकर अपना सामान ले लूँगा। मनमें कुछ निश्चिन्तता हुई कि अब सामान मिल जायगा। पर जब दूसरी बससे

करौली पहुँचनेपर पुलिसस्टेशनपर पूछ-ताछ की गयी तो यह जानकर बड़ी निराशा हुई कि पुलिस-स्टेशनवालोंको बस-कण्डक्टरने कहा है कि उसकी बसमें किसीका कोई सामान नहीं छूटा है।

यद्यपि सामान मिलनेकी उम्मीद अब समाप्त हो गयी थी फिर भी हमने दूसरी बससे पहिली बसका पीछा करना ही उचित समझा। पूरे सफरमें देवी-मैयाकी याद करते रहे पर दुःख तथा नैराश्यके आवेगमें मेरे मुँहसे यह निकल गया कि 'अच्छे दर्शन करने आये। ढाई हजारका नुक्सान कर बैठे। अब मैं तो देवीजीका दर्शन तब ही करूँगा जब सामान सुरक्षित मिल जायगा।' पत्नीको ज्यादा दुःख हो रहा था; क्योंकि उसीके आग्रहपर यह कार्यक्रम बना था। अस्तु, इसमें बस-ड्राइवरने भी हमारी मदद की। वह बसको इतनी तीव्रगतिसे ले गया कि इस बसने अगली बसको महुआ पहुँचते-पहुँचते ही पकड़ लिया।

पहुँचकर उस बसमें देखा कि जहाँ जिस सीटपर हमारे बिस्तर व अटैची रखे थे वे वहींपर रखे हुए हैं। इसे देखकर हमें अत्यन्त आश्चर्य हुआ और यह दृढ़ विश्वास भी हुआ कि यह सिर्फ देवी (कैला माँ)की ही कृपा थी कि हमारा खोया हुआ सामान इस प्रकार एक सौ किलो मीटर दूर चले जानेके बाद भी हमें सुरक्षित मिल गया। यदि ऐसा न होता तो बस रास्तेमें बीसों जगह सवारी लेने व उतारनेके लिये रुकी थी—कहीं भी सामान चला जा सकता था। हमें इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है कि रास्ते भर हमारे बार-बार स्तुति-प्रार्थना करने तथा पत्नीके रो-रोकर अवरुद्ध-कण्ठसे माँको पुकारनेपर देवीने, जिन्हें हम अपनत्व और प्रेमसे 'कैला माँ' कह करके पुकारते हैं, हमारी करुण-प्रार्थना सुनकर हमारा संकट दूर किया था। सम्भवतः माँने ही हमारी श्रद्धा-भक्तिके परीक्षणार्थ इस घटनाकी संरचना की हो। जो भी हो, माँ आखिर 'माँ' ही हैं। वे अपनी संतानको चाहे जिस परिस्थितिमें रक्खें, अन्ततः उसका परम कल्याण ही तो उन्हें अभीष्ट है।

—राधाकृष्ण गुप्ता, बी० काम०, एल-एल० बी०, डिप० एल० एल०

(४)

कर्तव्यनिष्ठ अधिकारी

मेरे एक परिचित राजकर्मचारीके जीवनकी यह प्रेरक घटना है। उनकी पेंशन सरकारी नौकरशाहीके जड फाइल-तन्त्रमें इधर-उधर हो गई थी। घूस देनी नहीं और लेनी भी नहीं, यह उनके जीवनका कड़ा सिद्धान्त था। सम्बद्ध कार्यालयके कर्मचारी उन्हें टालते रहते। आर्थिक दृष्टिसे कमजोर ये सज्जन पेंशनके चक्करमें बहुत परेशान हो गये थे। परिणामस्वरूप एक दिन कार्यालयमें जाकर कर्मचारियोंके ऊपर लाल-पीले (क्रोधित) हो गये। आवाज सुनकर नये आये हुए सर्वोच्च अधिकारी वहाँ आ पहुँचे। उनको देखकर कर्मचारियों (लिपिकों)ने इन महाशयकी नमक-मिर्च लगाकर अच्छी प्रकार शिकायत की। सर्वोच्च अधिकारीने उनकी ओर देखा, उनके चेहरेके ऊपरके बदलते भावोंको देखा। अँगुलीके संकेतसे अपने कार्यालयमें बुलाया। इस बीच क्रोधमें भरे उन महाशयने उन अधिकारीको भी डाँट-डपट दिया। इनके क्रोधकी ओर ध्यान न देकर अधिकारीने अपने चपरासी-को बुलाकर चाय-नास्ता लानेका आदेश दिया और शान्तिसे उनसे कहा—'बाबूजी! आप भूखे हैं, परेशान हैं। आपके-जैसा संयोग अच्छे-अच्छे व्यक्तियोंको व्यग्र बना देता है। आप कृपया शान्तिपूर्वक चाय-जलपान कीजिये। आपका काम आज शामतक हो जायगा। आप यदि सीधे मुझसे मिल लिये होते तो इस प्रकार आपको कष्ट न होता। सर्वोच्च अधिकारीकी ऐसी

सहानुभूति देखकर उन्होंने भर्राये स्वरमें कहा—'साहेब ! आप अभी नये आये हैं। आपसे पूर्व जो अधिकारी थे वे बहुत अमानवीय व्यवहार करनेवाले थे। मेरी कोई पहुँच भी नहीं········।'

'इससे क्या हुआ ? जिनकी पहुँच नहीं, उनका काम मैं पहले करता हूँ। उसमें कोई उपकार नहीं करता, सरकार हमें इसीलिये तो वेतन देती है। अधिकारी महोदयने उन्हें प्रेमसे शान्त करते हुए कहा। चाय-जल-पान कराते इन नये अधिकारीकी ओर सज्जनने सजल नेत्रोंसे देखा और भारी हृदयसे कहा—'साहेब ! मेरी अविनय क्षमा करना। भगवान् आपका भला करेंगे। आपने मेरे दुःखित अन्तःकरणको शान्त एवं प्रसन्न कर दिया।'

'बाबूजी ! आपको हमारे कार्यालयने अकारण परेशान किया, इसके लिये क्षमा तो मुझे माँगनी चाहिये। ये लोग—लिपिकवर्ग जड़ फाइलोंके पीछे मानवताको भूल गये हैं। परंतु इनको पता नहीं कि एक दिन इन्हें भी पेंशनर बनना ही है। कैसी भी समस्या हो, उसका निराकरण तो होता ही है और सरकार हमें सुचारु रूपसे युक्तियुक्त कार्य करनेके लिये ही वेतन देती है।' इतना कहकर अधिकारीने उनकी पेंशनसे सम्बन्धित फाइलें निकालनेका आदेश तुरंत दिया। उससे सम्बद्ध कार्यकर्त्ताओंको बहुत डाँटा तथा सुविधानुसार प्रयत्न करके तुरंत फाइलें तत्सम्बद्ध उच्च कार्यालयमें भेज दीं। इतना ही नहीं, वहाँ भी टेलीफोन करके इस केसपर शीघ्र ही निर्णय लेनेका प्रयत्न करनेको कहा। इन सर्वोच्च अधिकारीके इस मानवतापूर्ण दृष्टिकोणसे मेरे इन परिचित सज्जनको पेंशनका आदेश एक सप्ताहमें ही आ गया। जब ये सज्जन आभार व्यक्त करने उन अधिकारीके समीप गये, तब उन्होंने केवल इतना ही कहा—'मैंने केवल अपने कर्तव्यका पालन किया है। इसमें आभार किसका मानते हैं।' उस समय उस अधिकारीके मुखमण्डलपर कर्तव्यनिष्ठासे प्राप्त आनन्द तथा संतोषकी रेखाएँ व्यक्त थीं।

—डॉ० चन्द्रकान्तजी त्रिवेदी
(अखण्ड-आनन्द)

(५)

प्रभुके लम्बे हाथ

वह ऐसा क्षण जीवनमें आया था कि मुझे कतई विश्वास नहीं था कि 'मैं, मेरी मोटर एवं ड्राइवर उस भयंकर दुर्घटनासे बच निकलेंगे। लेकिन ईश्वरकी लीलाका रहस्य कौन समझ सका है ?' ये शब्द हमारे छोटे भाई मनोहरलालके हैं जो कुछ वर्षों पूर्व कलकत्तामें घटित दुर्घटनासे किस प्रकार बच सका, उसका रोमाञ्चकारी वर्णन उसीके शब्दोंमें इस प्रकार है—

'बेलूर स्टेशनके पास हमारी फैक्ट्री है। मैं जिस घटनाका वर्णन कर रहा हूँ, वह घटना आजसे ४-५ वर्ष पूर्वकी है। लेकिन उसकी याद आते ही अब भी रोमाञ्च हो उठता है। उस दिन भी नित्यके कार्यक्रमके अनुसार फैक्ट्रीका कार्य निरीक्षण कर दोपहर १२ बजेके लगभग घर लौट रहा था। मैं पीछेकी सीटपर था, ड्राइवर गाड़ी चला रहा था। गाड़ी जब लेनसे निकलकर जी० टी० रोडपर आ गयी तो ड्राइवरने बताया कि गाड़ीका ब्रेक फेल हो गया है। वह स्थान बेलूर-मठसे थोड़ी दूर था।

गाड़ी काफी तेज रफ्तारसे चल रही थी। उस समय बेलूरमठके पास ही रोडपर एक यात्री-बस रुकी हुई थी एवं यात्री काफी संख्यामें उतर एवं चढ़ रहे थे। साथ ही विपरीत दिशासे एक अन्य यात्री-बस पूरी रफ्तारसे चली आ रही थी।

सामनेसे तेज आती हुई यात्री-बस एवं हमारी ब्रेक फेल हुई मोटर, दोनोंके भिड़ जानेकी पूरी आशङ्का हो

गयी थी। हम अन्तिम क्षणकी प्रतीक्षा करने लगे; क्योंकि विपरीत दिशासे आ रही बस एवं पहलेसे खड़ी बसके बीचमें इतनी जगह नहीं थी कि हमारी गाड़ी निकल सके। यात्रियोंके सामने मृत्यु प्रत्यक्ष नाचने लगी।

ईश्वरने प्रेरणा दी। हमने ऐसे उत्तेजनाके क्षणोंमें भी ड्राइवरसे कहा कि गाड़ीका हार्न जोरसे बजाते चलो एवं हमारी दिशामें खड़ी हुई बससे जिधर यात्री चढ़ एवं उतर रहे हैं, उधरसे मोटर निकालनेकी कोशिश करो। हमने ऐसा इसलिये कहा कि दोनों बसोंके बीचमें हमारी गाड़ी निकले, इतनी जगह नहीं थी।

ब्रेक फेल हो जानेसे गाड़ीकी गति नियन्त्रित करना ड्राइवरके हाथकी बात नहीं थी। ईश्वरीयकृपाका हमें यहाँ प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। हार्नकी इतनी तेज एवं निरन्तर आवाजसे बससे उतरने-चढ़नेवाले यात्री चौकन्ने हो गये थे एवं उनकी तरफ तेजीसे बढ़नेवाली मोटरको देखकर वे भयभीत होकर देखने लगे थे एवं अपनेको दुर्घटनासे बचानेके लिये शीघ्र अलग जाकर खड़े हो गये।

इतनेपर भी एक वृद्ध फेरीवाला जो फल फेरी करके बेच रहा था, हमारी गाड़ीकी चपेटमें आ ही गया और गाड़ीके धक्केसे बम्परपर उछलकर गिरा। बम्परसे फिर जमीनपर गिर गया। उस फेरीवालेके साथ टक्कर होनेसे गाड़ीकी स्पीड स्वतः कम हो गयी थी एवं थोड़ी दूर जाकर गाड़ी रुक गयी थी, कारण ब्रेक फेल हो जानेके आभासके बाद ड्राइवरने स्टार्टर बंद कर दिया था। कुछ तो स्टार्टर बंद हो जानेके कारण एवं कुछ फेरीवालेसे टक्करके कारण थोड़ी दूर जाकर गाड़ी एकदम रुक गयी।

गाड़ी रुकते ही दूसरा संकट सामने आ गया। ऐसी परिस्थितिमें आस-पासके लोग गाड़ीके पैसेंजरों एवं ड्राइवरको बुरी तरह पीटना शुरू कर देते हैं। इसी डरसे गाड़ी रुकते ही मैं अविलम्ब गाड़ीसे उतरकर पीछे जहाँ वह आदमी गिरा हुआ पड़ा था वहाँ जल्दी पहुँचकर घायल वृद्धके बारेमें जानकारी करने लगा। लोगोंने कहा कि वृद्धको गाड़ीके धक्केसे काफी चोट आयी है।

मैंने तत्परता दिखायी एवं कहा कि जो होना था सो तो हो ही गया। अब समय नष्ट करना ठीक नहीं है। फौरन उस गाड़ीवालेके पास जाकर बात की जाय और उसीमें उस वृद्धको बैठाकर अस्पताल ले जाकर उसकी चिकित्सा करानी चाहिये। उपचार जितना शीघ्र हो सके उतना ही इस घायलके लिये ठीक रहेगा। लोगोंको बात जँच गयी। वृद्धको गाड़ीमें लेटाया गया, जनतामेंसे एक स्थानीय आदमी साथमें बैठा लिया। मैं भी साथ हो लिया। गाड़ी धीरे-धीरे चलाकर अस्पताल ले गये। कहना न होगा कि अस्पतालमें उसकी चिकित्साकी पूरी व्यवस्था करके एवं सबके सहयोगसे वृद्धकी सेवाके लिये आर्थिक सहायता देकर ही हम वहाँसे लौटे।

जो भी हो, ऐसी भयंकर दुर्घटना होनेसे बच जाना एवं भीड़की उत्तेजना, उपद्रव, मारपीटसे भी मुक्ति पा लेना हम सबके लिये बहुत बड़ी बात थी। यह सब परमात्माकी अहैतुकी कृपासे ही सम्भव हो पाया था। दीन-आर्तोंको उबारनेके लिये उन प्रभुके हाथ सचमुच ही बड़े लम्बे और सर्वसमर्थ हैं।'

प्रेषक—रामजीवन चौधरी

(६)

गरीब ईमानदार

दिनाङ्क ६ मार्च १९७८की बात है। बसमें जलपाईगुड़ीसे आते समय मुझे गैरकाटा उतरना पड़ा। अपनी घड़ी देखी, शामके करीब पाँच बज चुके थे। दस-पंद्रह मिनट बाद ही नथुआ बाजारसे हाटवास जानेवाली यह बस 'जयगणेश' रुकी तो गैरकाटाके तथा वीरपाड़ाकी ओर जानेवाले कुछ यात्री उतरे। भीड़ थी। मैं भी एथलवाड़ी मोड़पर उतर गया जो गैरकाटासे चार

मीलपर है। वहाँ चायकी दूकानमें अपनी साइकिल रखी थी। कैरियरमें सामान बाँधकर समय देखनेके लिये पुनः ज्योंही घड़ीपर नजर डाली तो हाथमें घड़ी नहीं थी। मनमें कुछ चिन्ता हुई, तब वापस बीरपाड़ा जानेका निश्चय किया। सोचा यदि घड़ी बसमें गिरी होगी तो बसवालेको मिलनेपर अवश्य मिल जायगी। यह निश्चय कर सायकिलसे ही चला। सायंकाल करीब छः बजे बीरपाड़ा पहुँचा। बस खाली हो गयी थी, चढ़कर घड़ी खोजने लगा। इतनेमें ही कण्डक्टरने कहा—'क्या खोजते हैं?' मैंने उत्तर दिया—'घड़ी खोज रहा हूँ। गाड़ीमेंसे उतरते समय कहीं गिर गयी है।' कण्डक्टर बोला—'आपकी ही घड़ी है वह? एक घड़ी अभी कुछ देर पहले खलासीको मिली है। वह साहेबके पास दे आया है।'

खलासीने वह घड़ी बस-मालिकके पास जमा कर दी थी। अभी इतनी बात हो ही रही थी कि खलासी भी आ गया! उसने सारी बातें सुनकर मेरे द्वारा घड़ीकी पहचान बतानेपर जल्दीसे जाकर मोटरमालिकके पाससे घड़ी ला दी और मुझे सौंप दी। मुझे घड़ी दे करके वह गरीब खलासी बड़े ही आत्मसंतोषका अनुभव कर रहा था। धन्य हैं ऐसे लोग, जो गरीब होते हुए भी ईमानदार हैं।

प्रेषक—धनपत शाह

(७)

परोपकारी शिक्षक

आज भारतकी चाहे जितनी प्रगति हो गयी हो या आधुनिकताकी दौड़में वह कितना ही आगे बढ़ रहा हो; किंतु देशमें आज भी अनेक निर्धन छात्र धनाभावके कारण अध्ययन नहीं कर पा रहे हैं। पर आज भी कुछ शिक्षक ऐसे भी हैं, जो निर्धन छात्रोंके लिये अपना सर्वस्व न्योछावर करनेको तत्पर रहते हैं।

घटना १९७५ की है, जब मैंने मैट्रिक पास किया था; परंतु धनाभावके कारण महाविद्यालय-शिक्षाके लिये प्रवेश न ले सका। एक दिन एक स्वनामधन्य-प्राध्यापकने मुझसे पूछा—'क्यों साहू, तुम मैट्रिक अच्छे अङ्कोंमें उत्तीर्ण होकर भी आगे नहीं पढ़ रहे हो? क्या बात है, तुम्हें कालेजमें नहीं देख रहा हूँ? इसका कारण?' उत्तरमें मैंने कहा—'सर, धनके अभावसे मैं आगे पढ़नेमें असमर्थ हूँ।' इसपर प्राध्यापक महोदयने कुछ द्रवित होकर कहा कि तुम मेरे घर आना। जब मैं उनके घर गया तो उन्होंने बड़ी आत्मीयतासे मुझे पढ़नेकी सलाह दी और पुस्तकें एवं आर्थिक सहयोगका वचन दिया। मैं उनका कृपा-स्नेह प्राप्त करके लगातार तीन वर्षोंतक परिश्रमसे पढ़कर बी० ए० कर चुका हूँ।

प्राध्यापकने मेरे ही साथ इस प्रकार सहयोग किया हो, ऐसी बात नहीं है। वे प्रायः अनेक निर्धन छात्रोंकी इसी तरह गुप्त सहायता किया करते हैं जिससे निर्धन छात्र आगे बढ़ सकें। सभी छात्र उन्हें सदा अत्यन्त आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। उन्हें हमेशा 'सर' कहकर पुकारते हैं तथा कहीं मिलनेपर उन्हें झुककर प्रणाम किया करते हैं। जब छात्र विद्यालयसे पढ़ाई पूरी करके जाते हैं तो सभी की—विशेषकर उन निर्धन छात्रोंकी आँखोंमें हर्ष तथा उनके प्रति कृतज्ञताके आँसू निकलते देखे गये हैं। (कृतज्ञता दैवीभाव है, जिसके ये आँसू होते हैं।)

प्राध्यापक महोदयका यह आदर्श है कि वे निर्धन छात्रोंके लिये उनसे जो भी सम्भव होता है, वे यथाशक्य स्वयं तो करते ही हैं, इसके अतिरिक्त वे विद्यालयके गरीब-छात्र-फंडसे सहायता एवं पुस्तकालयसे छात्रोंको पुस्तकें भी दिलवाते हैं। ऐसे चरित्रवान् एवं प्रेरक सेवाभावी एक-दो शिक्षकोंके कारण ही आज वह महाविद्यालय 'विश्वविद्यालय'के अन्तर्गत श्रेष्ठ महाविद्यालयके रूपमें प्रसिद्ध है। ऐसे संवेदनशील, कर्तव्यनिष्ठ, आदर्श शिक्षकपर किस विद्यार्थीको गर्व न होगा? देश और समाजको आज ऐसे ही शिक्षकोंकी आवश्यकता है, जो शिक्षक और विद्यार्थियोंके सम्बन्धोंको मधुर और आत्मीयतापूर्ण बनाकर समाजकी सच्ची सेवा कर सकें। —अशोककुमार साहू

सदाचार-अङ्क समाप्त

'कल्याण'-प्रेमी महानुभावोंको सूचित किया जाता है कि चालू वर्ष (जनवरी १९७८ ई०)का विशेषाङ्क—'सदाचार-अङ्क' समाप्त हो चुका है। अतः अब इसके निमित्त कोई सज्जन कृपया न तो रुपये भेजें और न वी० पी० द्वारा भेजनेके लिये ही पत्र-व्यवहार करें। आगामी वर्ष 'सूर्याङ्क' प्रकाशित होगा। इसलिये 'कल्याण'के ग्राहक बननेके उद्देश्यसे भेजे हुए रुपये अब आगामी वर्ष (जनवरी १९७९से दिसम्बर ७९ तककी अवधि) के लिये जमा किये जायँगे। अजिल्द अङ्कके लिये कृपया १४.०० ही भेजें, आगामी वर्ष सजिल्द अङ्क देनेमें विवशता है।

—व्यवस्थापक, 'कल्याण', गीताप्रेस, गोरखपुर

अजन्माके जन्मकी महिमा

विविध अचिन्त्यानन्त विरोधी गुणधर्माश्रयरूप महान।
प्रकट हुए प्रभु कारागृहमें कृष्ण अतुल ऐश्वर्यनिधान॥
साधुजनोंका परित्राण, अति दुष्टोंका करने निस्तार।
धर्मस्थापन हेतु स्वयं प्रभुने यह लिया दिव्य अवतार॥
हरनेको निज प्रेमी-विरही जनका घोर विरह-संताप।
प्रेमधर्म-संस्थापनार्थ शुचि इच्छामय प्रकटे प्रभु आप॥
भाद्र, असित अष्टमी, अजनजन्मर्क्ष रोहिणी शुभ नक्षत्र।
मध्यरात्रि, बुधवार, छा गयी प्रभा सुखद अनुपम सर्वत्र॥
हुआ सुशोभन काल निरतिशय सर्व गुणोंसे अति संयुक्त।
ग्रह-तारे-नक्षत्र हो उठे सभी तुरंत सौम्यतायुक्त॥
हुईं प्रसन्न दिशाएँ सारी, तारे नभ छाये चहुँ ओर।
नगर-ग्राम-व्रज हुए धराके आकर मङ्गलमय वेछोर॥
सरिता हुईं सुनिर्मल-सलिला, निशि सर विकसे कंज अपार।
लदे वृक्ष पुष्पोंसे, पिक-अलि करने लगे चहक-गुंजार॥
शीतल-मन्द-सुगन्ध मधुर बह चला पवन अति सुखद पवित्र।
असुर-विरोधी साधु-मनोंमें उदय हुआ सुख सहज विचित्र॥
सहसा सुर-दुन्दुभी बजी तब, स्वर्गलोकमें अपने-आप।
सुनकर जन्म अजन्माका, सुर हर्षित हुए, मिटा संताप॥
किंनर शुचि गन्धर्व गा उठे, करने लगीं अप्सराएँ नृत्य।
करने लगे सिद्ध-चारण स्तुति, मनमें मोद भरे सब सत्य॥
लगे देवऋषि-मुनि सराहने पृथ्वीका सौभाग्य अपार।
जलधर लगे बरसने सिन्धुतट मृदु-मृदु गर्जन कर सुखसार॥
लगा जगमगाने कारागृह, फैल गया शुचि सुखद प्रकाश।
काराका विषण्ण कण-कण मानो कर उठा मधुर मृदु हास॥
खुलीं सभी हथकड़ी-बेड़ियाँ श्रीवसुदेव-देवकीकी तत्काल।
देख अलौकिक तेजपुंज अद्भुत बालक हो गये निहाल॥
विष्णुरूप, भुज चार, शङ्ख शुभ, गदा-चक्र-अम्बुज अभिराम।
शोभित श्याम-नील सुन्दर तनपर पीताम्बर दिव्य ललाम॥
व्रज-जीवन, गो-गोपी-सुख-धन, नन्द-यशोदाके प्रिय लाल।
सखा-परमधन, गोवत्सोंके शुचि सेवक-रक्षक गोपाल॥

—श्रीभाईजी